सरित्-दीप

कैलाश चन्द्र 'पीयूष'

आशीर्वाद

श्री पीयूष जी ग्राम-ज्वाला को लेकर हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए थे। उसके एक वर्ष पश्चात आप सरित्-दीप के रूप में गांवों का धूप-छांह भरा चित्र उपस्थित कर रहे हैं। इस पुस्तक में कवि ने गांवों को एक चिंतन शील चित्रकार की मानसिक स्थिति से देखा है और उनमें उत्कर्ष और अपकर्ष दोनों के चिन्ह पाये हैं। उन चिन्हों को आपने अपनी शब्द-चित्रण-कला से स्थायी बना दिया है। उन चित्रों को देखकर ग्राम सेवकों को कुछ प्रेरणा मिलेगी। मैं आशा करता हू कि श्री पीयूष जी की इस रचना का हिन्दी संसार में आदर होगा और उनकी कवि-प्रतिभा अपनी दीप्ति से हमको मानव-जीवन के नये नये दृश्यों और मार्मिक पक्षों का दर्शन करायगी।

—गुलाब राय

उन्हीं आदरणीय लाला मोतीराम जी रोहतगी के कर कमलों में, जो मुझे पितृ वत स्नेह करते रहे हैं तथा जिनके विद्यालय ने मेरे लिये विश्व का द्वार उन्मुक्त किया, सादर ! सस्नेह—

उन्हीं का कृपाकांक्षी

'पीयूष'

अपनी बात

पीयूष जी की प्रथम कृति 'ग्राम-बाला' से परिचय पाकर हमे हमारे उदार पाठकों ने बाध्य किया कि हम अपने अन्य प्रकाशन से पूर्व पीयूष जी के 'सरित्-दीप' से ही भारती के मन्दिर को आलोकित करें। सच तो यह है कि पारखियों ने ग्राम-बाला का जो मूल्य आंका है, देखकर हम दंग रह गये। और पीयूष जी ने अपनी कला की छाप जो पाठकों के हृदयों पर चिर-स्थाई बनाकर छोड़ दी है -इसके लिए हम उन को बधाई देते हैं। उनकी कला से भारती-निकेतन को गौरव मिला है।

इस एक वर्ष के समय में दोस्तों का जो सहयोग हमें मिला है, हम उनके कृतज्ञ हैं और आगे आशा करते हैं।

बनारसी दत्त शर्मा सेवक
प्रधान मन्त्री
श्री भारती निकेतन, बल्ली मारान,
दिल्ली।

दो शब्द

'सरित्-दीप', 'ग्राम-बाला' के बाद मेरी दूसरी रचना प्रकाशित हो रही है। 'ग्राम-बाला' की आलोचना करते हुए एक आलोचक ने लिखा था कि कवि मानसिक शान्ति के लिये गावों की भोली भाली जनता को अपना वर्ण्य चुन लेते हैं। गावों की ओर साहित्यिक समुदाय के झुकने के जहां और कारण हैं वहां एक यह भी उन्होंने बतलाया।

यद्यपि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया था कि 'ग्राम-बाला' के कवि का यह दृष्टि कोण नहीं रहा है तथापि उन्होंने मुझे एक नई वस्तु सोचने को दो ही, और मैं सोचने लगा कि क्या हमारे कवि वर्ग अथवा साहित्यिक समुदाय का गावों की ओर जाने का एक यह कारण भी हो सकता है? बहुत विचार करने के बाद भी मैं उनके कथन में सत्यता का कोई अंश नहीं पा सका। मेरी समझ में—कि गांव भारत के प्रकृत-निवास-केन्द्र हैं, भारत की जन-सत्ता गावों मे रहती है और भारत की सामूहिक उन्नति मे ग्रामोत्थान ही पहिली आवश्यक वस्तु है—साहित्यिक वर्ग का गावों की ओर जाने में मेरी भाति उपर्युक्त दृष्टिकोण ही रहा होगा।

'सरित-दीप', लिखते समय मेरे मस्तिष्क मे जहां अनेक उलझनें और रुकावटें भरी हुई थी वहां एक यह भी थी कि आज गीति काव्य के मुक्त

माता]

युग में यह मेरा बेसुरा आलाप क्यों ? परन्तु मुझे मालूम नहीं वह कौनसी शक्ति थी जो मुझे बाध्य कर रही थी और मैं अस्वस्थ होते हुए भी पृष्ठ के पृष्ठ अपने खल्फ में रंगता चला जा रहा था। वैसे मेरा तो अब तक यही विचार है कि मुक्त काव्य में रस उस परिपक्व अवस्था को नहीं पहुंच सकता जितना कि प्रबन्ध काव्य में। गुप्त जी के साकेत को पढ़ कर हम हँस और रो सकते हैं परन्तु अन्य कवियों की मुक्त रचनाएं हमारे अन्तराल पर उतनी गहरी छाप नहीं डाल सकतीं—यह ठीक है कि वे हमारे हृदय को कभी कभी अनुभूतियों के जोर से छू जरूर देती हैं परन्तु उनका प्रभाव स्थायी नहीं होता। प्रबन्ध काव्य में पाठक आत्म विभोर हो उठता है; कवि के विचारों की छाप उसके हृदय पर पड़े बिना नहीं रहती, वह जो कुछ कहना चाहता है उसे कुछ सक्रिय रूप अवश्य मिल जाता है।

'सरित-दीप' का क्या कथानक है अथवा इसकी क्या टेक्नीक, मुझे इसके बारे में कुछ नहीं कहना, मैं तो केवल इतना ही जानता हूं कि 'ग्राम-बाला' में मैं जो कुछ नहीं कह पाया था या नहीं कह सका था, वह इस में है, परन्तु मैं जो कुछ कहना चाहता था वह शायद आज भी न कह सका, पता नहीं क्यों, पर आज भी मुझे कुछ ऐसा भान होने लगता है कि जैसे कुछ रह गया हो।

हां, छंद और भाषा के बारे में मैं अवश्य कुछ निवेदन करूंगा। श्री 'निराला' जी ने जिस कविता-पथ को अपनी प्रतिभा-प्रभा से आलोकित किया है, मैं उसका अनुयायी हूं, उसे श्रेयस्कर भी मानता हूँ और इसी कारण 'ग्राम - बाला' मुक्त वृत्त ही में लिखी भी गई थी परन्तु मुक्त वृत्त जैसा कि मुझे अनुभव हुआ, साहित्यिक वर्ग की ही वस्तु है। जन-साधारण मुक्तवृत्त से कोई लाभ नहीं उठा सकता। वह पढ़ नहीं सकता और समझ भी नहीं सकता। तब क्या कविता केवल साहित्यिक वर्ग ही की वस्तु है ? उसे तो घर घर में अपना प्रकाश पहुंचाना है और उसके लिये दीर्घ

काल से चली आती हुई परिपाटी को पकड़ना ही पड़ेगा, हाँ—चाहे तो उसे आधुनिकता के रंग में रंग सकती है। इसीलिये अपने कई मित्रों के अनुरोध से मुझे सरित् दीप तुकांत छन्दोबद्ध रूप में ही लिखनी पड़ी परन्तु फिर भी मुक्त वृत्त के मोह को न छोड़ सका और एक सर्ग मुक्तवृत्त में लिख ही गया। इस मुक्त वृत्त की टेकनीक अन्य मुक्त वृत्तों से भिन्न है। सम्भव है यह कुछ अधिक सरल और प्रिय हो सके।

भाषा के बारे में मैं कुछ मुक्त अवश्य रहा हूं, (यदि उसे मुक्ती ही कही जा सकती है तो) जैसे आंख के लिये मैं कहीं लिख गया हूँ 'अश्रु कणा-लय' ग्राम-बालाओं के लिये लिख गया हूं 'ग्राम-गुन्जनी' और इसी प्रकार सुन्दरी के लिये भी कहीं लिख गया हूं 'रूप रिङ्गणां'—ऐसे अन्य कई शब्दों को मैंने घड़ा है। मैं नहीं जानता कि व्याकरण की दृष्टि से इन का कोई महत्व अथवा सार्थकता है या नहीं परन्तु मुझे ये सुन्दर लगे और मैंने प्रयोग किया। दूसरे क्यों कि मैं कुछ गाव पर लिख रहा था अतः ग्रामीण शब्दों को भी कि काव्य शास्त्र में चाहे ग्रामीणता को एक दोष माना है परन्तु मेरी समझ में वहां का वातावरण उपस्थित करने के लिये उनका होना आवश्यक सा जान पड़ा और मैं उन्हें लिख गया। चाहे विद्वज्जन इसे कुछ भी कहें परन्तु मैं तो यही कहूगा कि मैंने ऐसा करके मातृभाषा के शब्द भण्डार की अभिवृद्धि ही की है। क्योंकि इन शब्दों के पर्याय वाची शब्द हिंदी में नहीं मिलते। उदाहरण के लिये कुछ एक शब्द मैं दे रहा हूं :—

१ गोरवा—गांव के प्रथम छोर को कहते हैं।
२ बागर—कड़बी के ढेर को कहते हैं।
३ भरोटा—चारा अथवा ईंधन आदि के बंडल का नाम है।
४ रास—बैलों की वह रस्सी जो नथुनों में पिरोई हुई होती हैं।

पर मिल भी सकते हैं परन्तु मुझे वे ही अच्छे लगे जैसे, थेगला, लीक, ओपरी, तड़का, जरठ, बड़को, थ्यावस, ठाण इत्यादि।

हो सकता है कि ये शब्द प्रांतीय हों, परन्तु अभाव की पूर्त्ति अन्य भाषाओं के शब्द न लेकर यदि प्रातीय भाषाओं के शब्दों से की जाय तो मेरी समझ में अधिक श्रेयस्कर है।

अन्त में मैं श्री० प्रो० नगेन्द्र एम० ए० तथा श्री बिहारी लाल जी चतुर्वेदी के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूं कि जिनकी प्रेरणा और साहित्यिक सम्मतियों से मेरा यह प्रयास आज पूर्ण हो सका है।

मुझे याद है कि श्री भारती निकेतन के प्रधान मंत्री श्री० सेवक जी मुझ से दूर रह कर भी मुझे चैन नहीं लेने देते थे और उनके पत्र पर पत्र आ आ कर पूछ रहे थे कि "भैया! सरित्-दीप की मजिल अब कितनी और है?" उनपत्रों से मुझे एक नया जीवन मिल जाता था, जैसे किसी ने मेरे कान में को मंत्र फूक दिया हो। और उनके स्थानापन्न श्री० अजान जी तथा उनके सहयोगी श्री कृष्णगोपाल रोहतगी, जिनके अथक सहयोग और सतत्-प्रेरणा से आज एक वर्ष बाद ही मैं आपके सामने दूसरी कृति लिये खड़ा हूं सच पूछिये तो यह सब इन्हीं स्नेहियो का काम है। इनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करना या धन्यवाद देना मैं तो स्नेह को अपमान करना समझता हूँ। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि वे मेरे अपने हैं और इसीलिये उनका मुझ पर अधिक अधिकार है।

विशेष फिर कभी?

विनीतः—

कैलाश चन्द्र 'पीयूष'

ओ भावों की साम्राज्ञी !

पीड़ा - पुञ्ज - विदारिणी !

कविता-कुञ्ज - विहारिणी !

जीवन-ज्योति जगा दो मा !

दुःख - दैन्य - संहारिणी !

वितरो मनुज-मनुज में स्नेह,

सिरजो कण्ठ-कण्ठ में गान;

भर दो जन-जन में उल्लास,

फूको गांव-गांव में प्राण ,

ओ शब्दों की अधिराज्ञी !

एक

सांध्यसमय जा पहुंचा सरिता के तट,
भरने को भावहीन रिक्त-हृदय-घट,
करने को मृदु उल्लासों का संचय,
भरने को तृषित--तप्त--अश्रु--कणालय !

अन्तिम सी किरणों की आभा मन्जुल,
पाकर के सरिता का वक्ष गया धुल,
शान्त वियत, छाती पर दीप प्रज्वलित,
बढ़े चले आते थे लहर-वश त्वरित !

बढते ही आये वे पास पास में,
पास ही खड़ा था मैं सघन घास में,
एक दीप मध्य पत्र--खण्ड सा दिखा,
जिज्ञासा पूर्ण हुआ, पढं़ू क्या लिखा ?

खेंच बेंत ही से उस दीप को लिया,
पत्र खोल वर्णों पर ध्यान भी दिया,
लिक्खा था दोहा सा पत्र-खण्ड पर,
बांच जिसे भावों से चित्त गया भर !

सार था कि, "नेह-पीर दहती है क्यों,
नयनों में नीर-राशि-रहती हैं क्यों ?"
सोचता रहा मैं कुछ देर तक यही,
पहुँचा पर किञ्चित भी सार पर नहीं !

मानस में उठी एक प्रबल हूक थी,
देखूं वे ग्रामीणा यही भूक थी,
कविता नित करती है जिनमें क्रीड़ा,
सतत सजग रहती है जिनमें व्रीड़ा !

अमित रूपसी हैं जो सरल-प्रकृति हैं,
और जन्म ही से जो तरल स्मृति हैं,
थे समीप एक वयोवृद्ध महाशय,
जाने किन मूक विचारों में थे लय !

"कहां पास गांव यहां," पूछा उससे,
"उहां ठांव" हाथ हिला बोला—मुझसे,
तम ने निज चादर में विश्व लपेटा,
जन–समूह जा जा निज घर में लेटा !

रात हुई देख बढा मैं भी घर को,
तट पर ही छोड खडा बूढे नर को,
मन मे जिज्ञासा के भाव थे घने,
धूमिल से कई एक चित्र थे बने।

आ न पास कृत्रिमता उनके सकती,
स्वास्थ्य–चिन्ह रक्तिमता वहां थिरकती,
"गांवों की बालाएँ स्नेह भरी है,
विधि ने शुचि निधियां सब वहां धरी हैं !

शतदल-सा मानस ले कपट हीन वे,
भ्रू-भंगी, तरल-नयन-गति-विहीन वे
सात्विक्ता पूर्ण सरल हासमयी वे
स्वर्ग सुन्दरी हैं उल्लासमयी वे।"

कवि–वर्णित उनका यह वर्णन पद–पद,
मैंने रख छोड़े थे कुछ विचार गढ़,
उनके अनुसार स्वप्न निरखता रहा,
ग्राम्या का सौम्य हृदय परखता रहा!

झड़ती थीं फूल कभी हँस हँस कर वे,
देती थीं मृत में भी जीवन भर वे,
अल्हडता आलोड़ित तन करती थी,
सुभग सरस चितवन थी मन हरती थी!

मूक नाट्य करती थीं रह रह पल पल,
चित्त हुआ जाता था स्वप्न में विकल,
रजनी ने तारो का हार पिरोया,
दूर कहीं कोलाहल जग का सोया!

मन्द मन्द हँसता था चन्द्रमा सरस,
अगणित मृदु कर से तन रात का परस,
प्रगटे द्रुत लीन हुए तारों के दल,
सरित बही, जाती थी अविरत 'कल कल'!

ज्यों त्यों निःशेष हुई कान्त वह निशा,
चपल उषा हँसी खोल पूर्व की दिशा,
उठ बैठा मैं भी कुछ अलस-मनासा,
शैया पर बैठ गया शान्त बना सा!

जीवन यह नित्य बहा जाता क्षण-क्षण,
पा न सका नाम प्राप्त कर न सका धन,
भारी सा मन था कुछ अलसित सा तन,
समझ ही न आता था क्यों यह जीवन—

नित्य बहा जाता है ढग पुरातन,
वही मार्ग वही बात वही विरसपन,
रहता है सब ही का क्षणिक हास क्यों,
जल-कण का पल्लव पर क्षणिक रास क्यों?

सरितावत समय भी न कभी थकेगा,
जल-कण या दिन-क्षण गत, लौट सकेगा?
निकट कुञ्ज-आसीना चिड़िया चहकीं,
फूलों की सौरभ से दिक् दिक् महकीं!

तैल-सनी चिट्ठी पर नयन आ गये,
ग्राम-दृश्य कई एक पुनः छा गये,
"ऊँची-सी घघरी में थेगले लगे,
मन मन के पैर धूलि-भार से पगे!

हाथों में बैलों की रास को लिये,
नयनों में गौरव-आभास को लिये,
गाँव की कलत्र एक दृष्टि में पड़ी,
ऊँचे से टीले पर सुदृढ़ थी खड़ी!

दीख पड़ीं पुनः कई ग्राम-युवतियां,
खगवत जो उछल रहीं मार फुदकियां,
पुनः दृष्टि पड़ा कूप दृश्य मनोहर,
लाती थीं प्रमदाएँ दोघड़ भर भर!

कई एक बालाएँ दीख फिर पड़ीं,
घास के भरोटे धर मुदित थीं खड़ी,
पुनः कई दीख पड़ीं ढोती गोबर,
माथे से झरते थे श्रम-कण झर झर!

पलट गये इसी भांति चित्र पुनि कई,
ग्राम-युवक, ग्राम-बाल घूम सब गईं,
ज्यों त्यों कर त्याग ध्यान काम में जुटा,
ध्यान नहीं तब भी उस पत्र का छुटा।

/

दो

निविड़ अन्धकार लिये शाम आ गई,
सरिता-तट पर मृदु झङ्कार छा गई,
थाली में दीप, गठित तन में यौवन,
ग्रामीरगा तटी–तीर पुलकित सा मन—

लिये, चलीं गज-गामिनि वे आती थीं,
दीपक से भरा थाल वे लाती थीं,
ललक-पुलक छाई थी मधुराधर पर,
पवन मंद बहता था सरर सरर सर,

छुप छुप कर तारे भी देख रहे थे,
उनकी गति-विधि को अवरेख रहे थे,
वह भी कुछ खोया सा वहां खड़ा था,
धूमिल सा चित्र चित्त मध्य गड़ा था।

खोल पलक लोल नयन खोज रहे थे,
तरल-ध्वनि-स्वर में युग कान बहे थे,
तरल-तटी 'ढल मल ढल' वही जा रही,
तट पर थीं ग्राम-परीं गीत गा रहीं—

"बह बह री नदिया तू बह बह री बह,
'कल कल' की ध्वनि में मधुरी गाथा कह,
सागर की ओर चली उमड़ घुमड़ कर,
अतुलित आनन्द सुभग लहरों में भर।"

स्वर में थी मादकता गीतों में बल,
सुन्दर था राग सरस चितवन चञ्चल,
पुलक पुलक पड़ते थे सरिता के तट,
ललक ललक उठते थे सिरस, नीम, वट।

छोड़ रही बाला जब दीपक मिल सब,
खोल रही एक छोर अञ्चल का तब,
देख लिया उसने उस मृदुलाङ्गी को,
जान लिया उसने उस कुसुमाङ्गी को।

पत्र-खण्ड धर कर द्रुत दीपक छोड़ा,
दीप तुरत सरिता के उर पर दौड़ा,
हिलती थी सिहर सिहर दीप की शिखा,
देखता रहा यह वह चित्र सा लिखा।

दूर पर खड़ी थीं वे ग्राम-गुञ्जनी,
हरिण, हरी, हाथी के मान भञ्जनी,
दीप नहीं जब तक टल दृष्टि से गये,
अपलक ही नयन रहे भाव भर नये।

मूँद अन्त नयनों में इच्छा उत्कट,
बस्ती की ओर चलीं तज सरिता-तट,
पेड़ों के झुरमुट को छोड़ती हुईं,
बाल गईं मानस झकझोरती हुईं।

"लौटना नहीं है अब ठीक" सोच कर,
रथ, बहली, आदिक की लीक छोड़ कर,
उस ही पग-डण्डी पर पथिक चल पड़ा,
उसके मन में भी उत्साह था बड़ा।

विचलित-सा खोया-सा पथिक विचारा,
रात हुई देख त्याग तटी-किनारा,
उनके ही पीछे चल गाँव आ गया,
छोटा वह गाँव उसे खूब भा गया।

गाँव का न अनुभव था नये पथिक को,
किन्तु गाँव भाता था नगर-रसिक को,
विस्तृत से खेत हरित मुक्त सी पवन-
खेंचेगी क्यों न पास तृषितों का मन ?

जिन की इच्छाएँ हैं अतिशय सीमित,
जिन की अभिलाषाएँ अधिक न विस्तृत,
चाहें जो श्रम कर नित करना भोजन,
क्यों न बसें आकर वे गाँवों में जन ?

यहां नही होता है काम कलों से,
यहां नहीं मिलता है नीर नलों से,
मैशीनें घास यहां काटती नहीं,
वस्त्र-मिलें धूम्र यहां आटती नहीं।

यहां प्रकृति सोती है शांत-मनसी,
यहां मानवों में हैं छुपे मनीषी,
यहीं कहीं रहती है मधुरी कविता,
यहां रहा करते हैं जगत के पिता-

विश्वम्भर हैं ये पर उदर-रिक्त हैं,
तदपि चित्त इनके सुस्नेह-सिक्त हैं,"
इसी भांति पथिक शान्त सोच रहा था,
उस को था भान नहीं कौन कहां था।

चल चल वह आ पहुँचा गाँव-गोरवे,
बिखर गईं बालायें ओर-ओर वे,
सब विलीन हुईं भाग गेह-गेह मे,
छोड पथिक एकाकी व्यस्त नेह में।

नीरव-सा एक जगह पथिक रह गया,
'किधर चलूं ?' चिन्ता में चित्त बह गया,
परिचय से हीन वहां अगणित ही नर,
आते थे जाते थे 'राम राम' कर।

पूंछा यह किसी ने कि "कहां ठौर है ?"
"पहुंचना यहीं है या कहीं और है!"
अन्य तुरत बोल पड़ा "ठीक नहीं अब,
जाना तो जाना पर रात चुके तब ।"

"हाँ भाई मुक्खू की बात है सही,
जाने में आगे कुशलात है नहीं,
जङ्गल का मारग है ऋतु है पावस,
जाना जी ! आज रात ले कुछ थ्यावस ।"

सरल स्नेह सने शब्द उनके सुनकर,
विवश चला साथ साथ मुक्खू के घर,
द्वार पर न पहुँचा था वह चिल्लाया,
"मनभोरी ! मनभो !" का शोर मचाया ।

पल में ही बाल वही भागती हुई,
जिह्वा से होठों को चाटती हुई,
आ पहुँची प्रश्न-चिन्ह आनन पर ले,
बोला वह वृद्ध "अरे ! सिर तो ढक ले ।"

लज्जित-सी, झेंपी-सी, वक्र किये भ्रू,
कहा—"कौन दादा! ये" कुन्तल निज छू,
"हुक्का भर, पानी ला, और ला दरी,'
वृद्ध ने कहा, "है ये पाहुने अरी !—

आये थे आज कहीं गाँव देखने,
रात हुई रोक लिया रामरेख ने,
अच्छा जा बडको ! अब काम शीघ्र कर,
बातें करने को है पड़ी रात भर।"

ऐसा कह ले उसको आकर बाहर,
मुक्खू चट बैठ गया हुक्के को भर,
झुका ओर उसको भी दी उसने नय,
पर निषेध करने पर कहा—"महाशय !—

चुरट उरट मिलती हैं यहां पर नहीं,
बीड़ी मिल जाती हैं पर कहीं-कहीं"
कर निषेध कर द्वारा मूक रहा वह,
ग्राम्य सरलता में था आज बहा वह।

सोच वह रहा था क्या सरल चित्त है,
दुःख किन्तु यहां नहीं प्राप्य वित्त है,
खण्डित हैं दीवारें टूटे छुप्पर,
कीट जहां बैठे हैं घर अपना कर।

धमक तनिक पाकर वे हिलतीं थर-थर,
मनुज यहां रहते हैं जीवित क्यों कर?
गुफा, गुहा, नीड, आदि भी दृढ़ होते,
सुख से पशु-पक्षी नित जिन में सोते।

किन्तु गली भीतों पर टूटे छुप्पर-
देख, दुःख होता, ये मानव के घर!
इन से तो अच्छी थीं कहीं वे कुटी,
प्रकृति जहां चित्राङ्कन मध्य थी जुटी।

जगह-जगह कूड़ों के पड़े ढेर क्यों,
सभ्य हुआ विश्व किन्तु यहां देर क्यों?
सोहते अमित थे जो धूलि से भरे,
चित्त जिन्हें होते थे देखकर हरे—

आज देख-रेखाङ्कित उनकी पसली,
और निरख मांस-हीन गहरी हँसली
आती है लज्जा को भी तो लज्जा,
कहां गई विनसी क्यों ग्राम-सुसज्जा ?

प्रौढ़ा ही वृद्धावत दृष्टि आ रहीं,
गाँवों पर दुःखों की वृष्टि आ रहीं,
भूत-प्रेत रहते हैं रात दिन लगे,
भाव कदर पन के ये आज क्यों जगे ?

आज शेष गांवों में दीनता रही,
घर-घर में व्याप्त मात्र हीनता रहीं,
वेगवान बैल जो कि मारुत सम थे,
वसुधा तक को तोलें जिनमें दम थे।

आज किन्तु मांस-हीन पञ्जर लख कर,
रह-रहकर मानस में दुःख रहा भर,
आंखों पर मक्खी कुछ भिनभिना रही,
गीड़ों को निरख घृणा भी घिना रही।

शक्ति-हीन पूंछ दीर्घ हिल कभी-कभी,
जतलाती जीवित हैं बैल ये अभी,
और पुनि, कृषक ले ये बैल ही निबल,
खेत जोतते रहते दिवस भर सफल।

पास वहीं गायों का भैंसों का ठाण,
और वहीं सोते हैं दीन ये किसान,
रक्त चूसते रहते अहि-निशि कीटाणु,
होता है त्राण बचे कैसे हैं प्राण।

कर-कर के दिन भर उद्योग इस तरह,
जीवित हैं अब तक ये लोग किस तरह,
श्रम-फल क्या आधा भी इनको मिलता,
सच्चे सुख से क्या मन इनका खिलता ?

पर फिर भी रहता है अधरों पर हास,
कान्ति-युक्त मुख-मण्डल उर में उल्लास,
बात-बात पर जब ये लड़ते हैं लोग,
फिर भी क्यों एक अपर को देता है योग ?

यों ही वह बैठा कुछ सोचता रहा,
नीरव उच्छ्‌वास अमित छोड़ता रहा,
बाल वही थाल लिए सहसा आई,
चाह भरी आंखों में थी अरुणाई।

नयनों में कान्ति हास अधरों पर था,
स्नेह-सुधा-सिक्त, सरसतम अन्तर था,
शङ्कित सी, लज्जित सी आगे आई,
उसकी उस लज्जा से लाज लजाई।

लाकर झट थाल धरा चौकी ऊपर,
बिछा दिया बोरी का टुकड़ा भू पर,
थाली में चार बड़ी रोटी-सी थीं,
उन पर आचार-फांक मोटी-सी थी।

बूरा की ढेरी में था थोड़ा घी,
रहता है ग्रामीणों में जैसे जी,
आई वह पुनः एक कटोरा लिये,
सधा हुआ कुछ अपने गात को किये।

था जिस में भरा हुआ दूध लबालब,
बस यह थी भोजन की तैयारी सब,
दूध ही समग्र प्रथम साफ कर गया,
रोटी खा दो ही बस पेट भर गया,

मेसी थीं जौ की पर स्वाद भरी थीं,
यद्यपि वे प्रातः की पकी धरी थीं,
पानी के पीने का आया अवसर,
बाला वह लाई झट लोटे को भर।

ओक मात्र ही से पी सलिल वह लिया,
अगणित ही भावों से भरा था हिया,
इस प्रकार खा-पीकर शांत हो रहा,
निर्देशित शैया पर पुनः सो रहा।

"प्रात काल पड़ती है ठण्ढ जरा-सी,
लेना कुछ ओढ़ पथिक त्याग उदासी,"
कहा यही मनभों की मा ने भी आ,
रजनी भर जला किया उस दिन दीया।

ताकि नहीं कष्ट उसे उठने में हो,
या कि अन्य साथी पुनि जगने में हो,
"ओपरी जगह में क्या नींद न आई",
मुक्खू ने कई बार बात बनाई ।

गृहिणी ने कई बार डोल डोल कर,
"पूछा क्या जगते हो" बोल-बोल कर,
इधर-उधर गाय, भैंस, बैल देख कर,
सोती थी मुश्किल से वह घण्टा भर ।

"पानी है पीछे को भूलना नहीं,
"प्यासे ही रहे" कहो यह न जा कहीं,
लेना जो आवश्यक मांग-मांग कर"
कई बार बोली वह "यह थारा घर।"

स्नेह है अपार यहां मन में अब तक,
सोचता रहा वह यह जाने कब तक,
अन्त उसे थोड़ी-सी नींद आ गई,
घण्टे ही भर में पर भाग वह गई ।

घरन-घरन गूँज उठा चक्की का रव,
भरने जो लगा मधुर-मधुर सुधासव,
मन्द-मन्द मुहुर-मुहुर रव आता था,
अमित हर्ष जो हिय में उपजाता था।

बाहर को झांका जो नील निलय को,
भासमान ज्योतिपूर्ण रत्नालय को,
देखा हंसते थे नव तारक के दल,
शनै. शनैः चलते थे व्योम में मचल।

घरन-घरन पाट चले चूड़ियां हिली,
झरन-झरन उनकी उस नाद में मिली,
कितना सुख ध्वनि मधुरी वह देती थी
अनायास सारा श्रम हर लेती थी।

भरती थी व्यथितों के चित में क्रीड़ा,
हरतीं थीं प्रोषितपतिका की पीड़ा,
गातीं थीं गान कई वेदना भरे,
सुन जिसको होते थे घाव फिर हरे।

गाती हैं गाने ये श्रम खोने को,
या कि व्यथा अपने मन की धोने को,
गान में न स्वर-लय की थी गुण गरिमा,
किन्तु तदपि उसमें थी एक मधुरिमा।

गीत वे निकलते थे व्यथित-हृदय से,
सूर्य ज्यों निकलता है शून्य निलय से,
सुनता मैं रहा गीत वेदना भरे,
सुने पुनः शब्द मधुर "हरी, हर, हरे!"

पथ पर पुनि देखा कुछ मनुज जा रहे,
शौच आदि हेतु गीत किन्तु गा रहे,
कितना संगीत भरा तरल हृदय है,
गांव स्वर्ग के समान सुख-आलय है।

शौच भ्रमण आदि कार्य एक साथ हों,
प्रातः ही क्यों न पुनः मुदित गात हों,
जीवन है यद्यपि कुछ सीमित ही किन्तु–
बढ़ता है यहां नहीं कभी तृपा-तन्तु।

दूध दुहा जाने फिर घरों में लगा,
दूध सरिस रव वह था मधुरिमा पगा,
इसी भांति जुटे लोग काम में सभी,
वह भी हो सद्य लगा लौटने तभी।

"अब के जब आओ तो ठहरना यहीं"
मनभो ने कहा और देखती रही,
नयन पूँछते थे अब आओगे कब,
देखता रहा यह वह मुड़-मुड़कर सब।

तीन

भारती ! न सो कुछ चित्र आंकती चल तू,
अन्तर के भावों को शब्दों में ढल तू,
करदे माता ! मेरी भी कविता में गति,
भर भर कर नूतन भाव बढ़ा नित ही मति ।

वह देखो खडा झुका सा कर को साधे,
मस्तिष्क-क्रिया को एक सूत्र में बांधे,
सित पट पर अपनी लोल दृष्टि अटकाये,
वह मूक खड़ा गम्भीर स्वरूप बनाये ।

तूलिका शान्त है तनिक नहीं चलती है,
पर देर उसे यह तनिक नहीं खलती है,
है लगा हुआ उसके विचार का तांता,
वह मन में अगणित चित्र तुरन्त मिटाता ।

कर बार-बार ऊँचा उठता है रह-रह,
मृदुलांगुलियों में रुधिर थिरकता बह-बह,
कल्पना मचलती आनन रग पलटता,
वक्रिम भ्रू होते कभी सुहास झलकता ।

पट पर अंकित था दृश्य ग्राम का नीका,
था दूर्वा पूरित वक्ष वियत धरती का,
थीं कम्पित सी प्राचीर संभाले छप्पर,
वह अभी चुका था जिन्हें पीत रंग दे कर ।

छप्पर के सरकण्डे भी खुसे-खुसे थे,
उनमें अगणित ही कीट विषाक्त घुसे थे,
थीं चूंट रहीं अध चरी घास कुछ गायें,
तन ठठरीवत जिनका हम क्या क्या गायें ।

कंकरीला, पथरीला, ऊंचा-नीचा पथ,
कर चुकी कल्पना चित्रित थी मानस मथ,
थे जगह-जगह झङ्खाड़ खड़े बेढब से—
दिख रहे उन्हीं में थे कुछ कच्चे घर से ।

थी एक गेह पर सुमुखि खड़ी छाया सी,
निर्लिप्त विश्व से शंकर की माया सी,
खेली, पड़ती थी जान उदासी मुख पर,
उत्सुकता अपने रिक्त नयन में भर कर।

वह देख रही थी दूर पथिक जाते को,
थी खींच रही वह पास हृदय-भाते को,
लम्बी गहरी वरुणी पर जल कण छाये,
बालों को मुक्ताहार सजल पहिनाये।

लट बिखरी थीं, थे गुथे केश कंघी बिन,
पर उस में था सौंदर्य थिरकता छिन-छिन,
मृदु गोल गढ़ी बाहें थीं लोल नयन थे,
अधराधर दोनों सुषमा-सार-अयन थे।

था गौर वर्ण ऊंचा ललाट, भव्याकृति,
अनुरागमयी थी बाल सुढाल तरल-मति,
निर्दोष, न जिसने जीवन-पहलू देखे—
सुख-दुःख न कुछ उत्थान-पतन अवरेखे।

कह देंगे उसको 'अल्हड' एक शब्द में,
थी खड़ी हुई पट पकड़े द्वार मध्य में,
आंखों ने पूछा मानो आओगे कब,
रह गईं खुली ही उत्तर के हित वे तब।

वह चित्रकार सुन्दरता निरख रहा था,
अङ्गाग मृदुल, आंखों से परख रहा था,
छूता जो भी अङ्गाग पुलक भर देता,
तूलिका फेर कुछ जीवित सा कर देता।

लो छूए उसने ओष्ठ मधुर युग अब ही,
मुस्कान भरी आ उन होठों में तब ही,
लो फेरी अधा-धुंध तूलिका सिर पर,
हिल पड़े वायु में मृदु कुंतल लहरा कर।

यों भर देता था जीवन वह क्षण-क्षण में,
थी कला चित्र के एक एक कण-कण में,
उस कलाकार के कर हिलते थे ऐसे,
चलती है शफरी सलिल-राशि में जैसे —

घण्टों ही रहता मूक खड़ा वह तकता,
फिर कुछ रेखा या बिन्दू से कुछ रखता,
उसके कर द्वारा खिंची सरल सी रेखा—
भी कहती थी, "चातुर्य कला का देखा ?"

इस भांति कई घण्टों तक स्तब्ध रहा वह,
नूतन विचार की धारा मध्य बहा वह,
"सुन्दर ! अभिराम ! मनोहर" कोई बोला,
" 'मधु' ने निज चित्रकला में मधु ही घोला ।

टूटी विचार ी धारा मधु ने देखा,
था 'सुमन' हर्ष की मुख पर दौड़ी रेखा,
"आओ भैय्या ! लो देखो चित्र नया यह,
मैं तुम्हें आज ही याद कर रहा था," कह—

वह शांत हो गया सुमन चित्र में तन्मय,
था पतित ग्राम का दृश्य घृणित सा आलय,
कच्चे घर, ऊबड़ पथ, टूटे से छप्पर,
गन्दे बालक पुनि अर्ध नग्न नारी नर,

जब देखे तो भर आया उसका हीतल,
बोला "भैया! क्या यही ग्राम सुन्दर थल ?
क्या भारत-जनता-प्रकृत-निवास यही है,
क्या भारत -सत्ता का आवास यही है ?

जी रो उठता है देख दशा गाँवों की,
अन्तर फटता अवरेख दशा गाँवों की,
"देखा न अभी कुछ" मधु बोला यों तत्क्षण,
आओ करवाऊं तुम्हें गाँव के दर्शन"

यह कह उसने पट पृष्ठ द्वार के खोले,
घुस गये कक्ष में दोनों हौले-हौले,
उस कमरे मे दो ओर चित्र अवली थी,
जो सुघड़ सलौनी शान्त नितान्त भली थीं।

"अपकर्ष" शब्द था लिखा एक अवली पर
'उत्कर्ष' लिखा था अपर अवलि पर सुन्दर,
मैं लगा देखने पतन-अवलि ही पहले,
वे चित्र निरख हृदयस्तर मेरे दहले।

था प्रथम चित्र में अङ्कित खेत मनोहर,
मृदु, लम्बी, अगणित ईख खड़ी थी सुन्दर,
तोड़ा बालक ने गन्ना एक जरा सा,
खा लात किन्तु गिर पड़ा अतीव डरा सा

वह देख रहा था उस निष्ठुर मानव को,
जो लजा रहा था कृत्यों से दानव को,
आगे बढ़ देखा दृश्य महा ही भीषण,
थे खड़े मार्ग में अगणित नर-नारी गण।

उनके पीछे रथ, बहली, ऊँट खड़े थे,
वर-यात्री जिन पर साफे बांध चढ़े थे,
जो फेंक रहे थे कुछ पैसे मुट्ठी भर,
कञ्चे से पड़ते थे जिन पर नारी-नर ।

गिर जाते थे पड जाते टक्कर खाते,
बच्चे गोदी से विलग पड़े चिल्लाते,
चिथ जाते थे वे निरपराध शिशु ऐसे,
कुचले जाते हैं कीट पगों से जैसे ।

वह देख दृश्य करुणा को करुणा आती,
मानव की भूख निरख कर क्षुधा लजाती,
स्तम्भित सा सस्मित सा था मैं कुछ आकुल,
दुःखार्त शोक से भरा हृदय था व्याकुल।

फिर देखा वृद्ध महान जीर्ण से नर को,
जो पूज्य अर्घ्य था सारे ही जग भर को,
पर भूल स्वयम् सत्ता को वह बूढ़ा नर,
करता सलाम था लोगों को झुक-झुक कर।

था भूखा बूढ़ा कोई सत्ता लेता,
पर वणिक मार उसमें भी डण्डी देता,
थीं अर्द्धनग्न कुछ ग्राम-वधू घूंघट में,
लज्जा-सी सिमटीं खड़ीं जीर्ण से पट में।

फिर देखा सिर पर धरे घास का गट्ठर,
रिंग-सी आती थी वृद्धा मट्टर मट्टर,
जाने जीवन का भार ढो रही थी क्यों,
वह वृद्धा जीवन - सार खो रही थी क्यों ?

क्या दो रोटी के लिये घास ढोती थी,
उसके पैसों से ही रोटी पोती थी।
निर्लज्ज हाय! यह संसृति इतनी भूखी,
दे इस तक को न रोटियां रूखी?

जब चित्र दूसरा देखा उस वृद्धा का,
तो अन्त हुआ द्रुत दैन्य, दुःख, श्रद्धा का,
भर हांडी में कुछ रुपये गाड़ रही थी,
थी चार तरफ को दृष्टि वृद्ध मा हाँफ रही थी।

ऐसा क्यों जीवन के अन्तिम अवसर भी,
अटके हैं उसके प्राण आज धन पर भी,
निःशेष हुआ जीवन बाकी पर लिप्सा?
पूरी न हो सकीं मरणासन्न अभीप्सा।

कर चीत्कार फड़-फड़ा हृदय रोता था,
नयनाम्बु ढुलक मानस का मल धोता था,
भारत जन-सत्ता जहां अधिकतर रहती,
उन गांवों की क्या यही दशा कटु महती।

देखी बुड्ढे के साथ षोडषी बाला,
फेरे लेती थी मूंद हृदय में ज्वाला,
उनसे, जिन जैसों की गोदी में खेली,
है गाय और बेटी का ईश्वर बेली।

थे अभी उगे भी नहीं नहीं ऊले थे,
सित दुग्ध दाँत भी अभी न उन्मूले थे,
भूले थे मां की गोदी न वे विचारे,
पर फेरे हा! अब ही उनके कर डारे।

फिर देखा कर्ज कढ़ा कोई करता था,
दुर्दम समाज का रूढ़ि - दण्ड भरता था,
पुनि देख दृश्य कुछ और हास्य सा आता,
यद्यपि अन्तर में क्रोध-घृणा उपजाता।

लख प्यादा आता देख दूर से पथ पर,
कँप उठते थे गांव निवासी थर थर,
इस भांति वहां पर अगणित चित्र लगे थे,
लख जिनको दुख के भाव अपार जगे थे।

मधु ने देखा जव सुमन दुखी है मन में,
भर मीठी सी चुटकी तव उसके तन में,
यह कहा—"अवलि अव छोड़ो ग्राम-पतन की,'!
आओ दिखलाऊं निधियां रतन की

ऐसा कह वह उत्थान-अवलि पर आया,
नयनों में मृदु उल्लास अपार समाया,
बोला, "देखो तुम यहां प्रकृति—सुन्दरता,
मृदु हास पादपों के पत्तों से झरता।

पुनि देखे सिर से ऊंचे खेत भरे से,
थे सघन सिरों से युक्त अतीव हरे से,
उनमें ऊंचे चढ कृषि-बाला चिल्लातीं,
वे प्रकृति-यौवना अकृत्रिम रूप दिखाती।

फिर देखे कुछ चौपाल दृश्य सुन्दर से,
थे हुक्के जहाँ घूमते अगणित कर से,
नाई भरते थे हुक्के, पैर दबाते,
चौधरी वहां घण्टों बैठे बतलाते।

देखा पनघट पर पानी, ग्राम युवतियां—
भरती थीं, मुख में अंचल थाम युवतियां,
मृदु गोल गढ़ीं दृढ़ बांह न लचका खातीं,
हथकड़ियों ही वे खेंच घड़ा ले जाती ।

कदली सी पिंडली देख-देख कर उनकी,
कलियां खिल जानी थीं नीरस भी मन की,
था सजग वृक्ष-वृन्दो का पत्ता पत्ता,
थी आज अनोखी सुखद ग्राम की सत्ता ।

फिर चित्र दूसरा देखा, देखा कृषि जन,
थे लौट रहे सब सांध्य समय प्रमुदित मन,
गाते आते थे राग नष्ट करते श्रम,
था मानस में उल्लास, प्रमाद प्रबलतम ।

फेर देखी आती कुछ गायों की टोली,
रज उड़ा खुरों से मुदित खेलती होली,
आती थीं अपनी लम्बी पूंछ हिलाती,
"चौरी ! काली ! धौली !" जनता चिल्लाती ।

थे छोटे-छोटे गेह किन्तु थे अपने,
पड़ते न किराये जिनके उन्हें भुगतने,
'कल–कल' करती मृदु सरित पास बहती थी,
जो निश-दिन पुर-सेवा करती रहती थी ।

थे चित्र अनेकों वहां भरे मेलों के,
दर्शन होते थे वहां ग्राम-छैलों के,
ऊंचा सा साफा बांध लट्ठ ले कर में,
अलगोजे,वंशी दावे युग्म अधर में ।

जो डोल रहे थे धोती दुहरी बांधे,
थी खड़ीं ग्रास्या नयन उन्हीं पर साधे,
जिनके अंगों में चंचलता लहराती,
जो स्वस्थ चाल से चलती धरा हिलाती ।

नाजुकता उनमें थी न किन्तु थी दृढ़ता,
थी प्रकृत-सुन्दरी कृत्रिम रंग न चढ़ता,
नंगे थे उनके पैर वस्त्र साधारण,
पर सब भी था उनमें असीम आकर्षण ।

तृतीय-सर्ग

इस भांति देख ये सुन्दर दृश्य मनोहर,
धुल गया हुआ मानस मेरा उज्वलतर,
"मधु! कहना सच" पूछा मैंने विस्मय वश,
है कौन सत्यता रही कल्पना में बस।"

हँस बोला मधु "यह अनुभव पर निर्भर है,
कल्पना न रखती इतना प्रबल असर है,
मैं ग्राम निरखने अब के मित्र! गया था,
अनुभव वह मेरे जीवन मध्य नया था।

सरिता पर बहते दीपक देखे झिलमिल,
था एक दीप में पत्र वर्ण कुछ घिलमिल,
ज्यों-त्यों कर उसको सारा मैं पढ़ पाया,
था एक मधुर दोहा सा जो अति भाया।

मैं रुक न सका उस गाँव ओर को जाकर,
देखा अगले दिन दृश्य मनोहर सुन्दर,
देखो इस तट पर वही दृश्य अंकित है,
यह वही बाल है जो कि तनिक शंकित है।

देखो अंचल का छोर खोलती-सी ये,
निर्जीव चित्र में बाल बोलती-सी ये,
पूंछा करती "क्यों नीर नयन में रहता,
क्यों स्नेह-सिक्त-मानस ज्वाला-सा दहता ?"

है अतिशय ही भावनामयी वह बाला ।
सौंदर्य गया सचमुच ही उस में ढाला,
वह शिशुवत ही नित खेल खेलती रहती,
मधुरी अतीत की गाथा अपनी कहती—

"मा ! तुम्हे याद होंगे प्राचीन घरौंदे,
मा ! फूले होंगे आज हमारे पौदे,
मा ! फेंका तुमने कहां। हमारा गुड्ढा,
मा ! हुआ गोमती का गुड्ढा तो बुढ्ढा ।"

इस भांति किया करती है वह मृदु बातें,
बीता करती हैं इसी भांति ही रातें,
पूँछा जब मैंने नाम लजा कर बोली,
"मनभो" को "मनभावती" सजाकर बोली ।

मैं रहा सरलता के समीप कुछ क्षण ही,
लौटा मैं लेकर मात्र वेदना-कण ही,
मानस मेरा बिक चुका मित्र ! अनजाने,
जो रहा नगर में पहिन लौह के बाने—

उसको ग्राम्या की मृदु चितवन ने चीरा,
देखा मैंने सचमुच गुदड़ी में हीरा,
अब के फिर से जाने की सोच रहा हूं,
मैं सत्य, शिवम्, सुन्दर को खोज रहा हूं ।

तुम दो कुछ मेरा साथ अगर दे सकते,
जो बँटा काम का भार अगर ले सकते,
शुचि-हृदय, सरल सौंदर्य गाँव में पलते,
है शुद्ध समीरण वहां दुःख नित जलते ।

गाँवों में है प्राकृतिक सरल सुन्दरता,
गाँवों में ही मानस का रूप निखरता,
चुप सुमन रहा सुनता मधुकर की बातें,
'हैं सभी गाँव को ऐसा मधुर बताते ।'

मस्तिष्क मध्य पुनि दृश्य पतन के आये,
हैं क्या ये झूठे चित्र कल्पना-भाये ?
वह रहा सोचता बोला तनिक काल में,
"जाने क्या लिक्खा मधु ! तव विशद भाल में

लौटा अगणित उपहार रईसों के तुम,
कहते हो "ग्राम्या नागरिका से उत्तम,
वे भावमयी वे ज्ञानमयी होती हैं,
कल्पना-मधुरिमा उन ही में सोती है—

अच्छा अब के मैं भी देखूंगा जाकर,
ले चलोगे न, क्यों मुझे, कहो सच मधुकर !"
मधु बोला "अब के दोनों वहां चलेंगे,
फिर वहीं बैठकर मञ्जुल चित्र पढ़ेंगे,

तुम पाओगे सौंदर्य अपार वहाँ पर,
तुम देखोगे शुचि कविता-सार वहाँ पर,
नित वहां प्रकृति का रहता दीपित अञ्चल,
जल-मुक्ताओं से सजा हरित दूर्वादल ।

तृतीय सर्ग

बहती रहती है वहां सुरभि मनमानी,
क्रीड़ा करती है प्रकृति सुधा-रस-सानी,
मिलती कृत्रिमता नहीं वहां पर खोजी,
जन सारे हैं मनमस्त महा मनमौजी।

मैं तुम्हें कहूं क्या क्या अब उनकी बातें,
वे देख सूर्य की ओर समय बतलाते,
'दस बजते तक उनके तड़का रहता है,
है अभी उगा दिन मनुज यही कहता है।

उनके बच्चे भी खेल अजीब रचाते,
वे पकड़- वृक्ष की डाल कुलाचें खाते,
बन्दर समान वे दौड़े दौड़े फिरते,
वे कभी भागते, उठते, पड़ते, गिरते।

लग जाती है जब चोट किसी बालक के,
रुकते न कभी वे रक्त बहे जबतक के,
जब बहता उनका रुधिर दिखाई आता,
तब बाल दूसरा सत्वर धूल लगाता।

क्यों नहीं उन्हें वह छूत लगा करती है,
क्यों वह भी उन से दूर भगा करती है,
उस मिट्टी से वे घाव ठीक हो जाते,
बालक रहते नित्यप्रति मोद मनाते।

:१ देखे जाते रोते पीछे गुड़ के,
यह दैन्य निरख लौटूं न गाँव में मुड़ के,
आती थी मेरे बार बार ही मन में,
भावों का सागर लहराता था तन में।"

चार

खोल विश्व के वातायन को,
प्राची से झांकी अरुणाभा,
लगी दिखाने चकाचौंध-सी—
करने वाली अपनी आभा।

सिहर उठे बन के पादप सब,
लतिकाओं ने ली अँगड़ाई,
कूज पड़े पत्ती-गण मन्जुल—
भ्रमरों की गूंजी शहनाई।

वहां क्षितिज के पार हुआ फिर,
सूर्य उषा का सुन्दर संगम,
फेंक प्रकृति ने द्रुत अबीर को,
किया दृश्य सुन्दर सुन्दरतम।

पुलकी प्रकृति परित -लहरी मिस,
हँसी उठा सागर में, लहरें,
प्रगटाया कंपन वृक्षों मिस,
हिला हिला पुनि खेत सुनहरे।

द्रुत गति से सरिता निशि में भी
बही, और अब भी जाती है,
जाने किसकी मधुर स्मृति में,
विकल अथम पथ अपनाती है।

उसकी मृदुल-मृदुल लहरें जो,
बडी बड़ी चट्टान उड़ातीं,
विश्व-मैल जो धोकर सारा,
सागर के उर में ले जातीं।

आते जो भी उन्हें रोकने,
उन्हें साथ ही ले जाती हैं,
शक्ति-शालिनी किस असीम की,
ओर खिंची फिर भी जाती हैं।

देखा पुनि उस ओर तटी के,
जहां सघन तरुओं की छाया,
हरित द्रुमावलि के स्पर्श से,
जहां तटी का जी ललचाया।

बढ़ा डाल रूपी मृदुलांगुलि,
पुलकित सरिता का छू अन्तर,
जाग्रत हुई समस्त द्रुमावलि,
पात-पात में सिहर न भर-भर।

किन्तु निरख प्रतिबिम्ब सरित के,
अन्तर में रवि प्रतिद्वन्दी का,
वृक्ष तीव्र मर्दन ध्वनि कर कर,
चित्त कँपाते प्रकृति-नटी का।

उसी ठौर पर पैर डुबोये,
जल में दीख पड़ीं दो बाला,
खेल रहा था जिनके सिर पर,
स्वर्णिम बाल-रश्मि-उजियाला।

बैठी रही कई क्षण नीरव,
अन्त एक उन में से बोली—
"देखो कैसे पीती पानी,
सरिता से उड़ती खग-टोली।"

शांत रही वह प्रत्युत्तर में,
डाल क्षीण सी दृष्टि उधर भी,
किन्तु विजित होना न जानती—
थी वह उसकी सखी अपर भी।

थोड़ी देर ठहर कर बोली—
"देखो! सरिता की छाती पर,
बहा जा रहा है द्रुत गति से,
ठीक बीच में कोई मृत नर"।

"हां कुछ कुछ ऐसा ही सा है",
ऐसा कह वह शांत हो गई,
अपने मानस की उलझन में,
श्वांस मार वह पुनः खो गई।

किये उपकरण अमित अपर ने,
किन्तु न चर्चा चला विषय पर,
वज्राघात कर रही थी वह,
चुप्पी उसके विकल हृदय पर ।

आखिर खूब झंझोड़ क्रोध से,
बोली "तुझको मेरे सौगन,
जो तू नहीं बताये मुझ को—
क्यों रहता तेरा मन उन्मन ?"

मनभो बोली "नहीं गोमती ?
यों ही है कुछ सिर में पीडा",
"अच्छा ! समझी क्यों री ! तुझको–
है आती कहने में व्रीड़ा !"

हम तो अपने अन्तर की सब,
बात तुझे बतला देते हैं,
छोटीं बड़ी सभी बातों में,
तेरी नित सम्मति लेते हैं ।

किन्तु कहां तू ?" और तनिक हो–
रुष्ट, बैठ वह गई खिन्न-सी,
मन से एक, किन्तु कृत्रिम-सा,
क्रोध लिए वह दिखी भिन्न सी।

द्रवित हुआ मनमो का मन भी,
और कहा "हठ क्यों करती है,
बतलाती हूं तुझे हृदय की,
शान्ति नहीं यदि तू धरती है।

होगा तुझको सखी ! याद वह,
पथिक गांव में जो आया था,
गया लौट वह भोर हुए ही,
रजनी मात्र ठहर पाया था !

उसी पथिक की याद न जाने,
रह रह कर क्यों मुझको आती,
सिहर सिहर उठता है मानस,
मूक वेदना मुझे सताती !

कितना भोला ! कितना सुन्दर,
कितना सखि ! वह शांतमना था,
उसके अन्तराल का कणकण,
स्नेह-सुधा से सखी ! सना था ।

दिखता था रईस वह कोई,
पर गुमान का नाम नहीं था,
कितना मृदुल चित्त था उसका,
जहां दु:ख का काम नहीं था ।

उसकी सुधा मयी वह वाणी,
कर्ण-कुहर में गूंज रही है ।
रह रह कर उठती हैं हूकें,
अन्तर में आल्हाद नहीं है ।

पूछा जब उसने सखि ! मुझ से,
"भला कहो क्या नाम तुम्हारा,
सिहर गई मैं लजा गई सखि !
ज्यों-त्यों करके नाम उचारा ।

रहा देखता मुझको फिर वह,
चाह भरी दृष्टी से अपनी,
सखी ! सत्य कहती हूं तुम से,
मुझे आ रही अब भी कँपनी ।

चाह रही थी भाग कहीं पर,
शीघ्र छुपा लूँ अपना आनन,
पैर चाहते थे बढ़ जाना,
किन्तु फँसा ही रहा वहां मन ।"

कहते कहते लजा गई वह,
दौड़ गई लज्जा की लाली,
गद्-गद् कण्ठ हुआ पुनि उसका,
आंखें अवनी ओर झुकालीं ।

विस्मित यह सब देख रही थी,
अति उत्सुकता-मयी गोमती,
"समझी", बोली आखिर साहसा,
उत्सुकता के बन्ध तोड़ती ।

"अच्छा चलो, चलें अब घर को,
देर देख कितनी हो आई,"
घडा उठाते कहा पुनः,
"ले देख! धूप कितनी है छाई—

अच्छा अब के जब वे आवें,
मुझको भी तू बुलवा लेना,
मैं पूछूंगी उन्हें "कहां से,
सीखा तुम ने चित हर लेना।"

कहते - कहते पानी चुल्लू,
में भर उसके मुख पर मारा,
खेल रही थी लज्जा - लाली,
ढके जहां मुख - मण्डल सारा।

अरुण कपोलों पर जल-कण के,
विन्दु झलकते सुन्दर ऐसे,
रक्ताम्बुज पर ओस विन्दु पड,
शोभा को पाते हैं जैसे।

लम्बी सी पलकों में लटके,
रहे देर तक जल के मोती,
मानो इच्छुक हों पाने को,
मधुरी उन आंखों की ज्योती ।

लेती गई मधुर चुटकी सी,
पथ में चलती हुई गोमती,
कर्ण-कुहर में रिक्त-चित्त में,
मधुरस भरती हुई गोमती ।

"बतला अबके उनको पाकर,
सखी ! कहेगी क्या बोलेगी,
घूंघट काढ़ेगी या बतला,
अपना सुन्दर मुख खोलेगी ?"

चिढ़ी हुई मन भी झट बोली,
"हँसी करो मत ! बस रहने दो,"
उत्तर में गोमा भी बोली,
"सखी ! आज जी भर कहने दो ।–

तुमने भी कालू के बारे
में कितना परिहास किया था,
नित्य खिजाते और रुलाते,
चैन न लेने मुझे दिया था।—

यह परिवर्तन का चक्कर है,
आई अब मेरी भी बारी,
करो न जल्दी व्याह रचाने
की अब सखि! सारी तैयारी।"

"सफल हुआ सखि! प्रणय तुम्हारा,
क्योंकि सगाई थी पहिले से,
एक जात थी एक पाँत थी,
थे दोनों के घर में पैसे।

किन्तु यहां सखि! पेट पालते
हैं दिन भर दादा श्रम करके,
फिर भी कई बार सोते हैं
उदर, मात्र पानी से भर के।"

"बहिन ! न बोलो बात रुपै की,
घर घर हैं चूल्हे मिट्टी के,
दीपक के तल में तम रहता,
ढोल दूर के लगते नीके ।

सखी ! जुड़ी रक्खी थी जो भी,
पुरुषार्थों की कड़ी कमाई,
तीन साल के खाने पीने
में सारी सम्पदा उड़ाई ।

फूका पैसा कितना हमने,
दादा जी की बीमारी में,
देखा तुम ने भी सखि ! क्या क्या,
किया काज की तैयारी में ।

तुम ही सोचो फिर क्या घर में,
पड़ते हैं धन के पतनाले,
अरी ! बात कहने की क्या है,
घर घर हैं चूल्हे मटियाले ।"

चतुर्थ सर्ग

छोड़ मार्ग में सखी-साथ को,
मन भी घर के निकट आ गई,
देख नये से बूँट द्वार पर,
पुलक नयन के मध्य छा गई।

ज्योंही बढ़ी तनिक कुछ आगे,
कुछ परिचित सा स्वर पहिचाना,
दिया दिखाई फिर मनभो को,
मन चाहा वह व्यक्ति पुराना।

जिसके दर्शन की जिज्ञासा
में क्षण क्षण दूभर कटता था,
जिसकी मधुर स्मृतियों में नित ही,
हृदय रिक्त होता फटता था।

दीर्घ काल तक खड़ी रही वह,
लिये भार गागर का सिर पर,
जल-कण कुछ गिरने वाले थे,
उसके माथे से झर झर कर!

इसी समय देखा मधुकर ने,
आँखें टकराईं, भुज फड़की,
हृदय उमड आया अन्तर के,
बंधन की कडिया पुनि कडकी ।

किया नमस्ते हाथ जोड़कर,
चाह हृदय की नयनों में भर,
लजा दौड द्रुत गई बाल वह,
दिये बिना उसका प्रत्युत्तर ।

गिरते गिरते बची मार्ग में,
टुकड़े गागर के उड जाते,
हृदय कर रहा था 'धड धड़ धड',
भाव हृदय में उमड़े आते,

खिसियाने से मधुकर ने फिर,
ओर सुमन की देखा सत्वर,
आंखों ने आंखों को देखा,
समझ हृदय को झुकी निमिष भर !

सुमन शुरू से देख रहा था,
खड़ी हुई थी मुग्धा कैसे,
घन की घटा निरख कर नभ में,
पुलकित होते मयूर जैसे।

अन्दर जाकर के मनभो ने,
आहट पा गृह-पीछे देखा,
अगणित नर-नारी समूह लख,
खिंची तुरत विस्मय की रेखा।

जिज्ञासावश दौड़ गई वह,
सत्वर ही उस घटनास्थल पर,
सुन्दर चमकीली काली सी—
देखा एक खड़ी थी मोटर।

चार तरफ से जिसको घेरे,
वहां सभी ग्रामीण अड़े थे,
कोई नहीं त्यागता था स्थल,
जाने कब से वहां खड़े थे।

"मुक्खू के घर मोटर आई,
मुक्खू के घर मोटर आई,"
नर-नारी बालक - वृद्धों में,
मची गाँव में यही दुहाई।

बांध टोल के टोल ग्राम्य-जन,
उसे देखने को आते थे,
बच्चे कूद रहे थे अतिशय,
मन ही मन में हर्षाते थे।

कभी बजा यदि कोई देता,
भौंपू को जब पौं - पौं करके,
पीछे को हट जाते थे सब,
हक्के-बक्के होकर डर के।

खड़ी छतों पर ग्राम-युवतियां,
गोदी में नंगे शिशु लेकर,
धूप न उनको लगने पाये,
सिर पर अपने अंचल को धर।

देख रही थी झुक-झुक करके,
सभी नारियां उस मोटर को,
तरह तरह के प्रश्नों ने था,
भरा विचारों से अन्तर को।

कोई कहता राजा है यह,
मुक्खू को पुरुषों का परिचित,
कोई कहता है रईस यह,
आया है करने प्रमुदित चित।

पर कोई कहता, "बस 'मालिक
खैर करे मुक्खू के घर पर,
लगा मुकदमा कौन अमीरी,"
काँप उठता था वह रह रह कर।

उसके चिकने गहरे काले,
सुठि शरीर पर जन मोहित थे,
देख रहे थे अँगुली से छू,"
चित्त तनिक से भय-पूरित थे।

देखा मनभो ने भी सब यह,
और शीघ्र ही समझ गई वह,
उस ही की मोटर है जिसको,
याद किया करती थी रह रह।

मैं तो पहले ही जाने थी,
होगा यह कोई राजा ही,
दीख रहे हैं सो अब इसके,
वे ही ठाढ-बाट सब शाही।

पर यह कितना निरभिमान है,
छू न बड़प्पन इसे गया है,
अब भी देखो वह आँगन में,
जन साधारण भांति खड़ा है।

रही सोचती बहुत देर तक,
अन्त कुछ उसे स्मृति हो आई,
भूल सभी कुछ काम तुरत वह,
सखी गोमती-गृह प्रति धाई।

आकर उसे सुनाया सारा,
घटनाक्रम जो अब ही बीता,
जिस प्रकार से एक एक,
वस्तू को उसने जा-जा चीता।

और गर्व से कहा "नहीं है,
सखि ! वह कोई साधारण नर,
अब के साथ सखी ! लाया है,
एक बहुत ही सुन्दर मोटर।

लाज मुझे आई जाने मे,
अब के उसकी सेवा करते,
हृदय चाहता है जाऊं मैं,
किन्तु पैर पीछे ही पड़ते।

"अपने उस आराध्य देव के,
आगे जाने में भी लज्जा,"
कहा गोमती ने मन में ही,
देख सखी की सुन्दर सज्जा।

गोरे गोल गढ़े से मुख पर,
आंखें रक्तिम आभा वाली,
नाच रही थी, चढ़ी हुई थी,
भरे हुए लज्जा-मद - लाली।

जो यौवन-प्रभात की सुन्दर,
मधुरी गाथायें कहती थी,
चित्त चीरती तरल विशिष सी,
जो मानस-तल को रहती थी।

कुंतल उन पर लहराते थे,
या कि खड़े थे भुजंग अगणित
प्रकृति प्रदत्त सुधा से मृदुतर,
मधुरस-प्याली की रक्षा हित।

आनन था अर्णव भावों का,
एक तैरता एक डूबता,
क्षण-क्षण रङ्ग पलटता वर्षों,
लखने पर भी मन न ऊबता।

गोमा रही निरखती उसके,
ढंग सरल बातों के सुन्दर,
फूटी पड़ती थी अभिलाषा,
व्रीड़ा का आवरण चीर कर ।

पांच

मुक्खू का अंग अंग
आनन्दित था अतीव,
आज गांव भर के लोग
टुकुर टुकुर देखते है,
उसके घर ओर आज,
बढ़ी चली आती है
अंचल में चंचल चख
ढके ग्राम-बधू सरल
तरल दृष्टि फेंकती—
खेंचती युवक - वृद्ध,
सब ही की दृष्टि को,
सृष्टि को नचाती सी,
चपल चक्षु चोटों से ।
होठों में हास,
वियत नयनों में लास,
मधुर चितवन मे त्रास,

पुलक हीतल में धार,
सभी चाव भरी आती थीं,
मोटर के पास ।

किलक उठते थे बाल
थिरकते उनके गात
श्रवण कर मोटर-शब्द,
ध्वनित करते थे वही
अधर अपने युग मोड
लगा मुट्ठी का जोर ।

भरे आँखों में तेज
धरे हुक्के को पास
बना सुक्खू गम्भीर
मुदित देता आदेश
क्लेश मानस के भूल
मूल सुख-लहरों मध्य—

"करो भोजन तैयार,
घुटे सीरा या खीर
साग कोले का हो—
लाल मिर्चें भर खूब,

छौंक देकर तैयार ।'

कही थी ही यह बात
बुला तुलसी को पास
खड़ा कालू को देख
कहा—

"जा बाहर देख
कोई मोटर को छेड़
रहा होगा शैतान,
बान बच्चों की यही
नई वस्तू को देख
किया करते हैं छेड़ ।"

मँगा मुड्ढे दो-चार
बिठा उन पर निज अतिथि,
प्रश्न करता था सोच—
"कहो क्यों जी क्या हाल
उधर बिरखा का, खेत-
वहां कैसे तैयार ?"

कभी जिज्ञासा पूर्ण
प्रश्न करता था वृद्ध—

"सुना गांधी जी—
लाठसाब करते हैं बात
भारतीयों के हेतु
कोई सुविधा तैयार।"

पुनः आकर कुछ पास,
बना आनन गम्भीर
अमित शङ्कित सा वृद्ध
किया करता था प्रश्न
"कहो क्यों जी क्या चाल-
ढाल जर्मन की आज
सुना जादूगर एक
वहां उपजा है जो कि
विजय करता है देश,
लगा जादू का जोर
नित्य डँके की चोट।"

"नहीं! यह सब है झूंठ
बका करता संसार,
निराश्रय हैं आधार—
विहीना है ये बात"

मधुर शब्दों में बोल
गिरा अपनी को तोल
तुरत कहता था बात
सुमन ऊँचा स्वर साध—
"यहां भी होगी बात
भरी नूतनता गूढ़
अमित विस्मय से पूर्ण
नहीं जिसका परिमाण,
किन्तु होगी कब! कौन
कहे आगे का हाल।"

घूंट हुक्के की खींच
पुनः होंठों को भींच
धुआं मारुत में छोड़
अमित बादल से बांध
कहा, "हां जी! यह ठीक।"
युगल नयनों को फाड़
किये वक्रिम निज भौंह
तनिक ऊँचा कर हाथ।

पुनः चिल्लाया वृद्ध
"विद्या पट्टा भी तो न
अरे! घर मे है कौन,

धरो पानी ला शीघ्र
नहायेंगे ये लोग ।"

हुए न्हा धो तैयार
पुकारी मनभो बाल
पुनः मुक्खू ने शीघ्र ।

लखा मधुकर की ओर
सुमन ने आंखें फेर,
भरी थी जिन में ज्योति
कहा भाषा में मूक ।
पुनः खेली मुस्कान,
हिलाती उनके होंट
दिखाती उनके दांत
किन्तु फेरे फिर शीघ्र
अपर ओरों को नेत्र
अमित साहस से थाम
तनिक होठों को काट
हँसी अपनी बेढंग ।

खड़ी छज्जे पर पास,
वहां मनभो चुपचाप,

रही सुनती सब बात,
लिए उत्कण्ठित गात
विकल मानस अत्यन्त,
व्यग्र करने को बात
लाज की पर प्राचीर
उसे बंधन में घेर,
खड़ी थीं दृढ़तम उच्च ।

सबल वह गोमा आज
मुखर अतिशय अभिराम
खड़ी थी धारे मौन
निरखती थी छवि मधुर
मधुर मधुकर-मुखकी ।

सुनी जैसे आवाज
हुई हर्षित वह बाल
सरल, दौड़ी द्रुत चीर
विकट लज्जा-प्राचीर,
हिले उसके युग बाहु
हिला करते जिस भांति
अमित मातङ्गा सरिता के
जैसे युग तीर ।

पांचवां सर्ग

बढ़ी आगे को बाल
सरित जैसे पा ढाल
बढ़े आगे की ओर
हिलाती निज दृग-कोर
बढ़ी वैसे ही बाल—

ठिठक ठहरी पर देख
गँवारू अपना भेष
फटे मैले से वस्त्र
हुई थोड़ी सी त्रस्त
बदल क्यों न लिए पूर्व
किया क्षण भर ही सोच,
अपर पर था आवाज
नहीं अपने को रोक
सकी, सत्वर वह बढ़ी
बाल मारुत सी शीघ्र।

अधिक मंजुल था गात
सुहद गोरे युग हाथ,
लचक नागरिका भांति
न थी यद्यपि पर घनी
वहां दृढ़ता थी सक्षमता

स्वास्थ्य - चिह्न रक्तिमता
थिरक नृत्य करती थी
भरती थी मानस में
अतुलित आनन्द सरल।

चित था अवदात घना
थी वह निर्भीक मना
चंचल चख उसके थे
किन्तु लाज उनमें थी
पलकों पर खेलती।

डगमग हिल जाती थी
प्राचीरें कच्ची वे
चढ़ती थी जीने पर
जब वह मातंगिनी।

लचर - पचर करता था
सुदृढ़ निम्ब वृक्ष हहर
झूला जब झूल
झोल देती थी हींदे में।
कम्पित प्रति डाल डाल
झूम झूम पड़ती थी,

छूने को अवनि-वक्ष
निज कराग्र भागों से ।

मुदिता वह मुक्तकेशा,
गाती मृदु ग्राम-गीत,
अपने कल कण्ठ से
झूले में झूलती ।

सामने खड़ी थी वह,
नमित नयना, ऊर्ध्वंची,
असित - दीर्घ - केशी
शुचि व्रीडा की पुतली ।

झूम पड़ा,
नाच उठा,
मधुकर का मन मयूर
चित्त चाहता था चित्र
उसका। द्रुत आंक लेना,
रस - घटिका, रूप-राशि
मञ्जुलता- पुञ्जका ।
क्षण भर की निस्वनता
नयनों का प्रणय - नाट्य
मुक्खू ने तोड़, कहा—

"दूध मन भरी! ला री!
जल्दी से इनके हित
महामना, कब्र-कब ये,
आते करने पवित्र
अपनी लघु झोंपड़ी।"

दिन भर उस दिवस रहे
दोनों वे ग्राम मध्य,
घूम घूम देखे सब
ग्राम - गली-गेह-गेह
नेह भरे ग्राम-पुरुष,
स्नेह - मयी ग्राम-बाल।

लज्जा की पुत्तलियां
ग्राम - वधू निरखीं पुनि
लाती थीं नीर जो कि
पनघट से सिर पर धर,
दो दो मटके विशाल
कर में ले बरही को
गज गति वत मन्द बढ़ी
निज पथ पर जाती थीं

देखे पुन टोल कई
कृपक ग्राम - बाला के
कर में ले जालिया
खुरपा इत्यादि धरे
अपने कन्धों पर जो
बढ़ी चलीं जाती थी
खेतों की ओर
घास लेने को मुदित मना ।

मध्य मध्यान्ह काल
देखीं पुनि कई बाल
उष्ण, तप्त धरती पर
जातीं थीं नँगे पग
वृक्षों की छाया में
दौड़ दौड़, ठहर ठहर,
लिये खाद्य सामग्री ।—

उन पुरुषों के हेतु जो कि,
तड़के से गेह त्याग
खेतों की ओर गये
हल आदिक जोतने ।

ऐसे कितने ही दृश्य
निरखते रहे वे जन
सांध्य समय लौटे वे
अपने गृह ओर
विदा मुक्खू से मांग कर।

सुमन ने कहा लो मित्र!
बात छेड़ दी है अब
मन के मन्तव्य पूर्ण
होंगे अवश्य ही।

पाओगे ग्रामीणा
जीवन की साथिन के
मन्जुल से रूप में।

कलाविज्ञ! तेरे हित,
वस्तु सभी प्राप्य हैं
कौन भला कर सकता—
"ना" अपनी सुता हेतु
समझेगा अहोभाग्य,
देकर वह तुम जैसे

कलाकार, धनी, गुणी
सुश्री सम्पन्न को।
और सफल समझेगी
परिणीता जीवन को
पाकर के तुम जैसा,
कलाविज्ञ प्राणनाथ।

मधुकर निस्तब्ध रहा—
मोटर को हारना,
कच्चे से पथ में जो
धूलि को उड़ाती हुई,
उड़ी चली जाती थी
विद्युतवत तेज अमित
घर्र घर्र रतीव कर
कम्पित करती वनात,
शकित कर पशु-पक्षी
ढकती सी रजकण से
उन्नत द्रुमाग्र भाग—

सींच रही थी जिनको
नवप्रगटित चन्द्र-रश्मि,

फैली सी धवल छटा
विकच वन्य धरती पर
नीरव थी निस्वन थी
वह विशाल वन्य-भूमि ।

छः

कल्पना सी सुन्दर साकार,
नमित - नयना, मञ्जुल सुकुमार,
भरे नयनों में मूक खुमार,
लिये यौवन की प्रथम उभार।

अँग में लिए पुलक अभिराम,
हास्य मृदु युग अधरों में थाम,
स्नेह से सिक्त हृदय का क्यों न
खिंच सका चित्र, रहा मैं मौन?

हो रहा है क्यों आज विलम्ब,
तूलिका फेरो तुम ही अम्ब!
करो कुछ मेरा भी उपकार,
कल्पना करदो मा! साकार।

किन्तु वह सत्य ग्राम की बाल,
भरा जिसका श्रम कण से भाल,
न हो पाई है अब तक मूर्त,
करो मां! अभिलाषा की पूर्ति।

भरो इन अंगुलियों में स्फूर्ति,
खेंच दे जो ये उसकी मूर्ति,
रहा वह खड़ा-खड़ा था देख,
खिंची थी विशद भाल पर रेख।

रात का सुन्न-सान था काल,
चमकता था उन्नत शशि-भाल,
भरे अगणित तारों से गोद,
निशा प्रगटाती थी आमोद।

भेज कर कांत चन्द्र की कांति,
विश्व में भर दी अपनी शान्ति,
किन्तु उस के मानस की क्रान्ति,
रही अनिमन्जित बढ़ी अशांति।

छठा सर्ग

व्यग्रता बढ़ी अपार नितांत,
हुआ वह थोड़ा और अशांत,
कक्ष से बाहर आकर शीघ्र,
घूमने लगा छतों पर तीव्र।

देखकर सोते कोमल वृन्त,
निरखकर तम में लिप्त दिगन्त,
बढ़ी जाती सरिता अवरेख,
शान्त वह हुआ न एक निमेष।

बैठता चित्र ठीक वह क्यों न,
तूलिका आज रही क्यों मौन,
हुई क्यों आज कला असमर्थ,
साधना आज हुई क्यों व्यर्थ।

रहा वह दीर्घ काल तक त्रस्त,
विचारों में उस ही के व्यस्त,
हृदय में रह-रह कर उठती टीस,
रहा था आज दांत वह पीस।

हाथ में पुनः तूलिका थाम,
मनोहर मञ्जुल अति अभिराम–
बनाया रेखा - चित्र तुरन्त,
किया पर उसका भी फिर अन्त।

चित्र अगणित ही डाले फाड़,
चित्र वह हुआ तिलों से ताड़,
रहा वह दीर्घ काल अनिमेष,
लगी थी उसके मन को ठेस।

कला की कमी खटकती आज,
दिगन्तों पर था तम का राज,
छुप चुका था नभ का वह चन्द्र,
मलय बहता था सुरभित मन्द्र।

विचारों में अपने ही लीन,
रहा वह दीर्घ काल तल्लीन,
सोचता रहा ग्राम के दृश्य,
करुण, गर्हित, अछूत, अस्पृश्य।

"पड़ा है रोगी कोई क्षीण,
आर्त है दीन, शक्ति से हीन,
रट रहा मात्र राम का नाम,
पथ्यतक को न पास हैं दाम ।

वस्त्र हैं फटे जीर्ण अति म्लान,
भरे जिन में विपाक्त कीटाणु,
उन्हीं में जर्जर गात लपेट,
पड़ा है वह विधि का आखेट ।

मरा वह जीते जी ही आज,
अरे यह दुर्गति! हा! छिः! लाज-
हजारों बार उन्हें जो लोग,
सभ्य कहलाते कर सुख-भोग ।

हुआ कुछ प्राचीरों के मध्य,
अरे! क्या मानव-जीवन बद्ध?
जहां पर रहता जन-समुदाय,
आज उसकी यह दुर्गति हाय!

लाभ की ही हो चाहे बात,
किन्तु वह अगर उन्हें अज्ञात,
नहीं सकते वे उसको मान,
पड़ें चाहे देने भी प्राण ।

आज का यह विस्तृत विज्ञान,
अविष्कारों के पुंज महान,
मशीनें यंत्र आदि बलवान,
नहीं है इनका उनको भान ।

रोतीं स्त्रियां मार कर डांड,
डाक्टर नस्तर को जब मांड—
रहा होता कल्याण निमित्त,
किन्तु वह रूढ़ि-संकुचित चित्त—

मूर्खता जिसे नित्य ही घेर,
मचाया करती है अन्धेर,
कहा करतीं वे खोकर धीर
"डाक्टर बुरा हाय ! बेपीर ।"

हमारा सोता जन - समुदाय,
हमारी नसी जा रही आय,
हमारी विपुल दुधेरी गाय,
सूखती जाती करो उपाय।

जिन्हों मे हैं विशुद्ध अनुराग,
उन्हीं के मुख पर हाय ! विराग,
पहेली सदृश ग्राम की नारि,
सभी हैं वृद्धा क्या सुकुमारि।

हृदय रो उठता होकर क्लान्त,
निरखने वाला होता भ्रांत,
बंद कर दो सारे ही काम,
सँभालो पहिले अपने ग्राम।

दुःख हा ! दुःख ! अशिक्षा यहां,
विस्तरित क्यों न सुशिक्षा यहां,
चाहते हो यदि कुछ कल्याण,
फूक दो मैं गाँव-गाँव में प्राण।

अमित सत्ता सोती है वहाँ,
दीर्घ जनता होती है वहाँ,
सजगता हो उनमें उत्पन्न,
बने भारत सत्वर सम्पन्न।

किन्तु ये दीन, गाँव के बाल,
धूल खा, पेट बढ़ा बेहाल,
रोग के शैशव ही से गेह,
तनिक सी तिनके सी ले देह—

बनेंगे कर्णधार किस तौर,
प्राप्त जिनको न पेट भर कौर,
और फिर देखे उनके तात,
दिखीं फिर हिलती सी वे मात—

जरजरित तन जिनका बेहाल,
जीर्ण-पट ढका मात्र कङ्काल,
नहीं जिनमें नारीत्व ललाम,
नहीं जिनमें सौंदर्य छदाम।

काम के लिए हुईं उत्पन्न,
काम, पैदा करना है अन्न,
किन्तु भोक्ता जिसके हैं अन्य,
वाह रे ! क्या विशालता धन्य !"

रहा मधुकर यों ही था सोच,
रहा वह शीत श्वांस था छोड़,
न था उसके जीवन में लास,
न मानस ही में था उल्लास।

राषणा उसे प्रबल थी एक,
कर रही जो अन्तर में छेक,
करूं उस ग्राम्या को मैं प्राप्त,
अभीप्सित है जिसके हित गात।

अमित दुःखों से था मन पूर्ण,
वेदना कर मानस को चूर्ण,
चाहती थी बढ़ना वे रोक,
भर रही थी अन्तर में शोक।

गगन का वह नक्षत्र - समाज,
डगमगाता हिलता था आज,
प्रकृति की छाती पर सुनसान,
मौन थी बरस रही अम्लान।

गेह से मधुकर के कुछ दूर,
सुमन का घर भी तो था कांत,
जल रही थी अब तक भी जहां,
एक विद्युत की बत्ती शांत।

खेंचती थी जो विकल पतंग,
कांच से टकरा टकरा अङ्ग—
भंग कर कर के शलभ-कलाप,
नष्ट करता था तन चुपचाप।

चाहिये नहीं इसे बलिदान,
शलभ! यह नहीं दीप, पहिचान!
अरे! यह विद्युत - बत्ती देख,
रहेगी जलती ही अनिमेष।

नहीं इसके अन्तर में स्नेह,
क्रूर यह, मात्र प्रकाशित गेह—
करित्री है कोई यह शक्ति,
पालती नहीं तनिक अनुरक्ति ।

किन्तु वे बलिदानों की मूर्ति,
भरे लघु तन में जीवन-स्फूर्ति,
अमिट है जिनका ज्वाला-नृत्य,
सदा आती करने शुचि कृत्य ।

जानते जो केवल बलिदान,
हृदय है जिनका त्याग-निधान,
पूत हैं उनके हृदय-विचार,
भरा है उनमें सच्चा प्यार ।

तड़फड़ा टकरा टूटा एक,
निधन उसका यह पर ने देख,
किया सत्वर निज को बलिदान,
दीप की भांति ज्योति पर ध्यान ।

रहा चलता यह क्रिया--कलाप,
शान्त, नीरव, निस्वन, चुपचाप,
　　उधर आंखें खोले अविराम,
　　सुमन निज शैय्या पर अभिराम।

पड़ा कुछ सोच रहा है स्तब्ध,
चलो पढ़ लें उसका मन-ग्रन्थ,
　　"आज मुखरित मधुकर की कला,
　　साधना कर अगणित वह फला।

आज जनता तकती है राह,
उसी के चित्रों की है चाह,
　　सभ्य वह शेष रहा घर कौन,
　　सजा मधु के चित्रों से जो न?

जहां उसके न चित्र दो-एक,
वहां आनन्द का न अतिरेक,
　　कला का यह आकर्ष महान,
　　ग्राम-चित्रों ही में बलवान—

उदित हो रहा उग्रतर आज,
कर रहा मानव-मन पर राज,
स्निग्ध हैं जिनके प्रणय-निकेत
लह लहाते हैं जिनके खेत—

भरा है जिनमें सुमधुर स्नेह,
ललित हैं जिनके लघु-लघु गेह,
भावनामयी भरीं अनुराग,
अविकसित जिनके ऊँचे भाग—

तरल - नयना, मन्जुल, सुकुमारि,
सलज्जा, सरल, ग्राम की नारि,
तूलिका से कर चित्रित आज,
मुदित है मधुकर का चित आज।

सत्य को दिया सत्य का रूप,
कला है वस्तु के अनुरूप,
यदपि मैं भी घूमा था गाँव,
सका तक जान नहीं पर नाँव।

हुआ व्यक्तित्व देख पर मुदित,
खिल उठा उन्हें देख कर चित्त,
यदपि लौटा मैं उस ही शाम,
किन्तु वह घूम रहा है ग्राम ।

खडी वह देखो बाला एक,
मार्ग पर अपनी आंखें टेक,
देर तक रही मार्ग वह देख,
खडी ही खडी शांत अनिमेप ।

बुलाकर एक गाय को पास,
दिया बाला ने मुख मे ग्रास,
फेर कर उसके सिर पर हाथ,
लौट वह गई मोद के साथ ।

नहीं यह एक द्वार का दृश्य,
किन्तु यह निरखा सब पर भव्य,
ग्राम हैं शुचि क्रीड़ा के ओक,
वहां बहता आनन्द अरोक ।

ग्राम के वृद्ध जनों के गात,
हिला करते करते भी बात,
किन्तु वह नित रहते तैयार,
करें जितना हो पर उपकार।

दृश्य वह अतुलित भीषण आह,
अग्नि का काण्ड धूम्र की छांह,
छू रही अन्तरिक्ष के छोर,
बढ़ रही लपटें घर-घर ओर।

मुझे हो चला यही था भान,
जलेंगे सारे आज किसान,
फूस के पास पास थे गेह,
बरसता था स्फुलिंग का मेह।

करेंगे अभी अग्नि को प्राप्त,
अनिल यह सत्वर होगी व्याप्त,
सोचकर करुण दुखद यह अन्त,
हिल उठा मेरा मानस-वृन्त।

किन्तु बीता न तनिक सा काल,
व्योम में उड़ती धूल विशाल—
देखकर हुआ अमित आश्चर्य,
कि सारे ही नर - नारी - वर्य ।

फेंकते थे भर-भर कर धूल,
दबाते थे ज्वाला के फूल,
और देखा कुछ पल पश्चात,
वहां सब ही कुछ था अवदात ।

बुझ चुकी थी वह भीषण आग,
गये जो जन्तु दूर थे भाग,
लगे वे आने क्रमशः पास,
भय - ग्रसित शंकित और उदास ।

इस तरह कर आपस में मेल,
समझते हैं वे दुख को खेल,
खेल में ही लेते दुख झेल,
नित्य कुसमय को देते ठेल ।

छठा-सर्ग

यदपि ये लड़ते रहते लोग,
समय पर लेकिन देते योग,
स्वच्छ है कितना उनका हृदय,
शीघ्र वे होते कुपित - सदय ।

प्राण देकर भी रखते आन,
पड़ी यह शैशव ही से बान,
स्वकुल की टेक - मान - मर्याद,
सदा ही रहती इनको याद ।

बुजुर्गों की दोहराते बात,
दिखाते निज अतीत अज्ञात,
भूत के गाते रहते गान,
गाँव के भोले, सरल, किसान !

बिचारे वे संतोषी जीव,
न इच्छा उनकी दीर्घ अतीव,
इधर हम वैभव नित पा खूब,
कभी थकते न, न जाते ऊब ।

नित्य ही बढ़ती जाती हाय,
पूर्ति के मिलते जब न उपाय,
अहर्निश रहते हैं हम खिन्न,
कुमुदनी यथा ताल से भिन्न।

सुनी मुक्खू ने जब वह बात,
खिल उठा उसका बुड्ढा गात,
किन्तु कतिपय पल ही पश्चात्,
छा गई उस पर गम की रात।

सोचता रहा देर तक मौन,
कहा फिर, "नट सकता है कौन,
प्रश्न यह कुछ रखता है मोल,
सकूँगा अभी न मैं कुछ बोल—

सोचकर बतलाऊँगा हाल,"
उठा ऊँचे को नेत्र विशाल,
कहा मुक्खू ने यही सगर्व
"ब्याह है ही जीवन का पर्व।

किन्तु द्रुत होकर थोड़ा शान्त,
वृद्ध ने हँसते हुए नितांत,
कहा, "क्यों करते हो तुम हास,"
हुआ फिर थोड़ा वृद्ध उदास।

तुरत मैंने बनकर गम्भीर,
कहा, "यह हँसी नहीं है धीर,
समझना पूर्ण हमारे बोल,
हृदय निज लेना किन्तु टटोल।"

"खैर! मैं चिट्ठी दूंगा डाल,
लिखा दूंगा उसमें सब हाल,"
हुआ वह पुनः सोच में लीन,
लौट हम आये तज तल्लीन।"

विचारों में अपने यों लीन,
सुमन भी रहा रात तल्लीन,
विगत हो गया निशा का जाल,
हुआ प्राची का माथा लाल।

प्रसव की लाली फैली शीघ्र,
उगा रवि रक्तिमता ले तीव्र,
विश्व को दिया नया सन्देश,
प्रकृति ने पलक किये उन्मेष।

चह चहा उट्ठे पुनि खग - वृन्द,
गूंजने लगे भृङ्ग मृदु मन्द,
पुलक भर वसुन्धरा के अङ्ग,
लगे प्रगटाने अमित उमङ्ग।

सात

एक से पकड़ बैल की पूंछ अन्य कर में ले साटा धीर,
रहा हल फेर खेत के बीच चौधरी वक्ष धरा का चीर।
शान्त रहता न कभी मस्तिष्क करे जन चाहे जो भी काम,
सोचता रहता है वह मौन सुखद या दुखद कार्य-परिणाम।

भूत का रहता है कुछ दुख भविष्यत् की चिन्ता का ध्यान,
सोचता है तब वह कुछ और सुना करते हैं जब कुछ कान।
कठिन सी दोपहरी अम्लान बरसता जहां अनिल का मेह,
अवनि पर फोड़ों से थे खड़े भभकते हुए गाँव के गेह।

तवे सी जलती थी वह धरा मूक, गम्भीर, नितांत अशान्त,
चल रही थीं कुछ लूएँ तेज आह सी भरती हुई कृतांत।
विकट इस अवसर पर भी शान्त लड़ाता है वह अपने हाड़,
आज ही नहीं युगों से मौन रहा है वक्ष धरा का फाड़।

निरख कर बहते-श्रम-जल-बिन्दु फेरते हल पृथ्वी पर देख,
निकल पडता बरबस यह, "हाय यही है कृषक-भाग्य की रेख।"
नित्य खेंची जाती है विवश अवनि का सुन्दर सा उर फाड,
एक के बीस बीस कर प्राप्त न फिर भी छिपते इनके हाड़।

त्यौरियां मुक्खू-मुख पर पड़ीं, फेंकता बैल थका सा झाग,
चल रहा है जाने किस भाँति उसाँसें भरता हुआ अभाग।
बिचारा खेंच रहा है बोझ निरन्तर बीते युग तक मौन,
अरे ! यह स्वार्थ भरा संसार अपर की चिन्ता करता कौन ?

बैल वह जिसके बिखरे हाड खेंचता मर मरकर वह लीक,
एक घन्टे में आता लौट वाह रे ! भारत-कृषि-पथ-नीक ?
आज जब दौड़ रहा है विश्व आज जब उड़ता है संसार,
सुबह छपतें हैं अगणित पत्र शाम को हो जाते बेकार।

आज भारत ही है क्यों दूर सभी दुनियां जब आई पास,
रहेंगे भारतीय जन कहो खोदते कब तक ऐसे घास ?
विश्व आलोकित जिसने किया जगत को दिया प्रथम संदेश,
पूर्व की आज भारती वही हाय ! क्यों दिखती मैले भेष।

बिचारा चला रहा हल मौन वृद्ध जरजर सा निर्बल गात,
चौधरिन दूर खड़ी है वहां सिमट कर जैसे काली रात।
धूप में करते करते काम हुआ परिवर्तित उसका अङ्ग,
घृणित वह दर्शित होती हाय ! जरठ से लिये अंग-प्रत्यङ्ग।

रह रहे खूड पाँच ही और, खड़ी गिन रही यही अनिमेष,
घड़ी आधी सी का है काम कान्त के लिये और अवशेष।
छछूली में भर थोड़ी छाछ और धर उसपर रोटी चार,
चमकती लाल लाल सी वहां एक लौंजी की लम्बी फार।

रहा निज कारज ही में लीन दियो भुक्खू ने उधर न ध्यान,
सीकरों से श्रम के अविराम अग उसका करता था स्नान।
घूमता करता था वह काम किन्तु था और कहीं ही ध्यान,
सुमन का पाणि-गृहण-प्रस्ताव झन झनाता था रह रह कान।

"योग्यता में मधुकर हैं योग्य और है ठीक परस्पर आयु,
कमी कुछ धन की भी तो है न रक्त से भरी स्वस्थ हैं स्नायु।
तुम्हारे है कुछ ऊंचे भाग पड रहा उन्नत घर में सीर,
सुता को मधुकर-कर में सौंप मिटेगी मानस-चिंता-पीर।"

याद आई उसको वे बात गई जाने मन में क्या घोल,
हुआ वह व्यस्त कार्य के मध्य सोचता हुआ सुमन के बोल,
दिखी फिर वह चमकीली कार भव्य, मन्जुल, विशाल, अभिराम,
नाचती थी मन्जुल रवि-रश्मि गात पर पड जिसके अविराम।

चमकते थे विशाल दो नेत्र सांप के फण पर जैसे मणी,
उगलते थे रवि-रश्मि नितान्त लजाते कोहनूर की कणी।
और फिर खिड़की में से झांक पडी वह उसकी मनभो बाल,
विदा के समय रो रही सुबक सुबक कर आंखें भर भर लाल।

अभी मिल सकी नहीं थी स्त्रियां खड़ी थी नैन भिगोये दूर,
अभी पा भी न सके थे शान्ति पिता के चक्षु युग्म भर पूर
एक करकश सा कर के शब्द, उडी मोटर ले सत्पर बाल,
खड़ी ही रहीं ग्राम की नारि हाथ में लिये दूर्वा-थाल।

बांधती नभ में धूम्र-पयोद उड़ाती पीछे अपने धूल,
क्षितिज के पार गई द्रुत दौड विक्षिप्त सी पैदा करती शूल ।
गया भी साथ नहीं दो कोस सोचता था मुक्खू यह बात,
"नहीं यह उचित नहीं सम्बन्ध" कहा उसने कर कड़ा गात।

और फिर उसको आये याद नगर के बड़े बड़े प्रासाद,
जहां छू रही गगन के छोर अचल सी प्राचीरें साल्हाद।
जहां पर अगणित जन-समुदाय बहा करता था अविरल मौन,
किये सब अपमा अपना ध्यान जानता एन न दूजा कौन।

पास ही जाती थी मुर्दनी उधर आती थी सजी बरात,
नहीं बाजा हो पाया बन्द रहे ताने योंही सब गात।
मर गयो या जीवित है कौन भला यह कौन करे परवाह,
सभी के अन्तराल में वहां व्याप्त थी अपनी अपनी चाह।

मशीने थीं वे चलती हुई नहीं वे मानव थे संभ्रांत,
जा रहे थे वे पथ पर मौन भागते से विह्वल, उद् भ्रान्त।
नहीं कुछ भी पड़ता था जान शीघ्रता मय लख उनके कृत्य,
आँख दिखलाते थे वे लोग कि जो थे कुछ रुपयों के भृत्य।

दिखी फिर कठ पुतली सी मेम भ्रमित सी पकड़े साहब-हाथ,
लिए अपना फुलका सा गात झूमती जाती थी वह साथ।
रँगे होटों को अतिशय लाल सफेदा सा शरीर पर पोत,
उड़ी जाती जन-पथ पर मौन नगर मे दिखी रूप की ज्योत।

व्यस्त उस जन-समूह के मध्य दिखी भौंचकी मनभो खड़ी,
सींकचे में पची की भाँति कहां से वन-सारिका पड़ी।
बाल वह घबराई सी चकित भ्रमित सी झट झट होती दूर,
गात को जान जान कर छेड़ रहे थे जन सब उसको घूर।

देख कर के हँसते थे लोग पास के से कहते थे, "देख—
गाँव की यह गँवार है बाल भाव-भूषा इसकी अवरेख!"
वासना-पूरित उनके नेत्र रहे थे बुरी दृष्टि निज टेक,
तुरत ही आ जाता था अन्य घूर कर जाता जैसे एक।

सोचते हुये सभी यह बात थका उसका मस्तिष्क नितान्त,
"नहीं यह कारज होना ठीक," यही कह वह होता था शान्त।
पसीने सिर से अपने पूँछ, कहा—"यह ठीक नहीं सम्बन्ध,
किसी की तड़क भड़क को देख कभी होना न चाहिये अन्ध—

मैत्री हो या पुनि हो बैर शोभता समता ही में नित्य,
मित्र दो होते एक समान एक से होते उनके कृत्य।
कहा तुलसी आदिक ने यही सत्य हैं ये सब उनकी बात,
तर्क का यहां नही कुछ काम बात है यह नितान्त अवदात।"

शेष था एक खूड ही और किया उसको भी सत्वर पूर्ण,
और फिर लौटा तरु की छाँह कृषक वह हारा, मांदा, चूर्ण।
बैठ कर देखा अपना कार्य खेत की छाती दी थी चीर,
लिया सन्तोष भरा सा श्वाँस विजय लख जैसे लेता वीर।

पीसता घिसे हुये था दाँत पास ही अर्ध-मृतक सा बैल,
जो कि अपने स्वामी के साथ रहा था अपना जीवन ठेल।
प्रियतमा ने देखा पति ओर उधर मुक्खू ने तोड़ा कौर,
शान्त थे दोनों ही चुपचाप नहीं वे बातें करते और।

उगलती धरा धूप थी तीक्ष्ण व्योम भी बरसा था आग,
तप्त लौ की लपटों सा तेज समीरण मुक्त रहा था भाग।
चलाई उसने सधमि बात कहा—"क्या कहते थे वे लोग,
मनभरी के विवाह की बात किन्तु हम कहाँ उन्हों के योग ?—

तुम्हारा क्या विचार है नाथ ! तुम्हें कैसी जँचती है बात,"
सुनी मुक्खू ने हो गम्भीर कहा—"क्या नहीं तुम्हें कुछ ज्ञात।
तुम्हें क्या नहीं रहा यह होश कि यह कैसा होगा सम्बन्ध,
ढकेले गा न इस तरह कूप मध्य निज सुता अध से अंध—

गांव की पत्नी मुक्त वह बाल सकेगी शहर मे न हो सुखी,
आयु भर कोसेगी दिन रात अगर वह रही तनिक भी दुखी।
मैत्री हो या हो पुनि वैर सदा समता ही मे है ठीक,
कहा करते है ऐसे पूज्य यही है पुरुषाओ की लीक।

हुआ वह इतना कह कर शान्त,
तनिक क्रोधित सा चिंतित भ्रान्त।
स्वच्छ था ऊंचा नीलाकाश,
धधकती सी थी धरा अशान्त।

आठ

कहा गोमती ने, "री ! सुन,
मन क्यों है तेरा उन्मुन,
लगन अगर सच्ची तेरी,
सत्य जान फिर सखि ! मेरी ।
वे तुझ को अपनायेंगे,
खिचे स्वयम् आजायेंगे,
रहें सभ्य चाहे कितने,
पढ़े भारती के जितने ।
किन्तु सभी में जी है एक,
वह भी तो मानव है एक,
जी को जी का आकर्षण,
खेंचा करता है क्षण-क्षण ।
मैं तुझ को दिखला दूंगी,
जल्दी ही बतला दूंगी,

खड़ा निकट ही वह तेरे,
लेगा तुझसे ही फेरे ।
रख मन में संतोष जरा,
दे न नियति को दोष जरा,
समय सभी कुछ करता है,
रस नीरस में भरता है ।
है मुझ को विश्वास सखी !
वह भी खो उल्लास सखी !
श्रांत मनासा खो-यासा,
होगा वह भी रोया-सा ।
तुम दोनों के हृदय-तडाग,
हुए स्नेह से सिक्त सराग,
तुम दोनों ही के जीवन—
में आ बसी सरस तडपन ।
उस दिन जब उसको देखा,
लिये अधर पर स्मिति-रेखा ।
था जिसका संकेत यही,
"बिके हाथ तेरे हम ही ।"
हैं यह बात समझने की,
मन ही मध्य परखने की,

कब तक तुझको समझाऊँ,
कैसे खींच उन्हें लाऊँ ?"

"अच्छा बन्द करो भाषण,
तुम्हें इसी में रस-वर्षण—
मिलता अमितानन्द तथा,
कीट कीच में मुदित यथा।—
देख चन्द्र के साथ लगी,
सरल तारिका हास पगी,
फिरती रहती लगी लगी,
ज्योति-रिंगणा जगी जगी।
पर जब चन्दा छुप जाता,
उनका मुख भी कुम्हलाता,
प्रिय से प्रिय का रूप बना,
देता है आनन्द घना।
वस्तु नहीं यह साधारण,
रमता इसमें सब का मन,
तेरा भी कालू हित री!
तड़पा था कितना चित री!

भूल न बीते दिवस सखी !
दिन ये आते विवस सखी !
इन्हें बुलाता है ही कौन,
लाती इन्हें नियति ही मौन।
बापू रहते खिन्न अरी !
मा भी रहती भिन्न अरी !
क्या वे भी सब जान गये,
मन की सब पहिचान गये।
मैं निश दिन सोचा करती—
बात यही डरती डरती,—

उसका वह सुन्दर सा तन,
आंखों में करता नर्तन।
तू कह कैसे चुप रहलूं,
कैसे यह ज्वाला सहलूं,
बहलूं पर कैसे बहलूं,
आ तुझसे मन की कहलूं।
संभव है कुछ दुख कम हो,
क्षीण विरह यह दुर्दम हो,

पर ऐसा होता है क्यों,
हृदय स्वयम् खोता है क्यों।
आज हृदय में आग लगी,
विषम वेदना यहाँ जगी,
"दोनों ओर प्रेम पलता,
जलता दीप, शलभ जलता।
तब क्या है उनको भी स्नेह,
उनके मन में भी मधु-मेह—
सखी! बरसता रहता है,
प्रणय हृदय में बहता है?
हुई लाज भी शत्रु अरी!
उस दिन बातें भी न करीं।
आई सखी! मुझे लज्जा,
निरख सौम्य उनकी सज्जा,
मेरा भेष मुझे खटका,
मन जाने में भी अटका।
किन्तु नहीं फिर पाई रह,
गई तुरत सरिता सी बह,
उस सागर के पास सखी!
मन में भर उल्लास सखी!

उन का भारी आकर्षण,
मुझे खेंचता था क्षण-क्षण,
उसने भी मुझ को देखा,
स्नेह-दृष्टि से अवरेखा ।
मैंने देखा नैनों में,
स्नेह छलकता सैनों में,
प्रणय तन्त्रिका बजी बजी,
पर, मैं फिर भी हाय ! लजी ।
नहीं सकी पी रूप - सुधा,
मिटी तृषा ना मिटी क्षुधा,
यदपि पास पीयूष बहा,
तदपि चित्त यह तृषित रहा ।
रही दूर ही दूर खड़ी,
वे सुख से भरपूर घड़ी,
खोईं री ! मैंने खोईं,
कहते कहते वह रोई ।
चाहा चित ने लिपट सखी !
लता सदृश ही चिपट सखी !
करलूं दग्ध हृदय शीतल,
रह रह उठती थी पल-पल ।

दारुण टीस हृदय में री,
दुर्दम खीझ हृदय में री ।
किया न जाने कैसे तोष,
दूं पर मैं किसको री ! दोष ?
वह लज्जा, कुल-मर्यादा,
मुझे दे रही थी बाधा,
जो मैं चरण सकी ना छू,
टपका सकी नहीं आँसू ।
उस छविमय मञ्जुल मुख को,
देख देख पाया सुख को,
मंद मधुर मुस्कान - लहर,
आती मन में ठहर - ठहर ।
तू कहती मैं क्यों उन्मुन—
रहती हूं, दुख मेरा सुन,
रहती हूं उद्भ्रान्त निरी,
विषम-गर्त में गिरी-गिरी ।
गये दिवस, बीतीं रातें,
शेष आज केवल बातें,
आया क्या संधान बता,
आतुर हैं ये कान बता ।

नित्य सवेरे जब जगती,
पथ पर ही पहिले भगती,
आते ही हों वे जैसे,
पर आयेंगे वे कैसे ।
चिन्ता ही है क्या उनको,
चाह नहीं मेरी उनको,
मैं गँवार हूं मूर्ख, अपढ़,
बेढङ्गी, फूहड, अनगढ़ ।
कैसे उनके जोग बता,
हूं कैसे मैं योग्य बता,
भाग्य नहीं उनको पाऊं,
पर यदि उनको पाजाऊं—
तो नभ के तारे तोडूं,
दूधों की मटकी फोडूं,
मारुत पर भी चढ़ दौडूं,
सागर तक को आलोडूं ।
फूलों से खुशबू लेकर,
चन्द्र-ज्योति मानस में भर,
खग - वृन्दों से ले कूजन,
करूं सखी ! उनका पूजन ।

खोल हृदय के स्तर के स्तर,
बिठला उनको शत - दल पर,
रहूं निरखती उनका मुख,
यही चाहती हू मैं सुःख।
समझ न तू मुझको पागल,
हृदय रहा है मेरा जल,
पल पल बरस-बरस-सा री !
दिन कटता पर्वत - सा री !

एक दिवस की बात कहूं,
थी आधी सी रात कहूं ?
उनके ध्यान मध्य तन्मय,
उनकी ही स्मृतियों में लय !
सोच रही थी क्या जाने,
भाव लगे थे कुछ आने,
उनकी वह मन्जुल प्रतिमा,
आंखें भरे हुए गरिमा ,
हास मधुर अधरों में भर,
आने लगी समीप सुघर।

आकर मेरा अंग परस,
बोले किम्चित बैन सरस ।

भूल गई मैं भूल गई,
कर स्पर्श पा फूल गई,
आनन्दों में झूल गई,
उतर हृदय की चूल गई,
लबढ़ब लबढ़ब डगमग डगमग,
हिला हृदय द्रुत धगग-धगग ।
पुलक अमित मन में छाई,
लहर लहर तन में छाई,
उसी समय मां ने मेरी,
दूध कटोरे में ले री !
मुझे कहा पी लेने को,
घूंटें दो ही लेने को,
पर मैं थी उस समय वहां
सरस सुधा की धार जहां—
बहती रहती है अविराम,
निपट नितान्त तरल अभिराम,

मा ने कहा, "अरी ! लेना",
मैंने कहा "उन्हें देना ।"
बोली "किसे, बक रही क्या?"
"मा तू भी न लख रही क्या,
बैठे हैं वे ही सन्मुख,
जिनमें अन्तर्हित सुख-दुख !
फिर जाने बोली क्या-क्या,
हृदय - ग्रंथि खोलीं क्या-क्या,
देख दशा मा घबराई,
सुन सुन बातें दुख पाई !
तनिक गिरा को ऊँचा कर,
रोष अमित वाणी में भर,
बोली—'बात बनाती है,
लाज न तुझको आती है ।'
ऐसा कह झकोड़ दिया,
स्वप्न सरस वह तोड़ दिया,
मैंने जब बातें जानी,
हुई अमित ही खिसियानी !
बहुत देर तक शान्त रही,
उनकी स्मृति में भ्रांत रही,

तन के मेरे रोम सभी,
खड़े हुए हैं अब तक भी"
सचमुच गोमा ने देखा,
सीधी खड़ी रोम-रेखा,
था वाणी में भी कंपन,
नीचे झुके विशाल नयन।
कर्ण - मूल थे लाल घने,
हृदयस्तर थे स्नेह - सने,

बोली गोमा, "अच्छा बोल,
इच्छित मिलने पर, क्यों? खोल--
हृदय, मिठाई देगी ना ?
याद सदा रक्खेगी ना ?
या जायेगी भूल बता,
बतलायेगी हमें धता !
क्योंकि राज - रानी होगी,
प्रिय की पट - रानी होगी,
वैभव होगा पैरों पर,
ऊँचे - ऊँचे होंगे घर—

और चमकती सी मोटर,
जिस पर तू नित ही चढ़कर,
किया करेगी अठ - खेला,
वह तेरी सुख की बेला।
याद मुझे कर होता सुख,
होती मैं भी उन्नत-मुख,
यह ऊँचा माथा तेरा,
यह सुठि बालों का घेरा।
स्नेह भरे ये दीर्घ नयन,
यह मुख, सुषमा-सार-अयन,
दिखलाता है स्पष्ट मुझे,
कभी न होगा कष्ट तुझे !
तू बैठेगी पलकों पर,
राज्य करेगी जीवन भर,
तुझे मिलेगा तेरा वर,
जो चाहा वह ही मधुकर।
मनभी पढ़ती पुलक पुलक,
अन्तर रहता छलक छलक,
देख रही थी ललक ललक,
आज गोमती को अनथक।

सुन भविष्य वाणी मधुरी,
बोली, "यदि तव बात पुरी,
दूंगी तुझ को मन माना,
पर आगा किसने जाना।
मनके लड्डू क्यों फीके,
बोल सुबोल वही नीके,
पर यदि ऐसा हुआ नहीं,
बात गई अन्यत्र कहीं।
तब मेरा जीना मुश्किल,
मर जाऊँगी घुल तिल-तिल।"

"मरें सखी! तेरे दुश्मन,
कर न तुझे मेरी सौगन—
अपना छोटा भारी मन,
कौन निरख यह सुन्दर तन,
चाहेगा न तुझे लेना,
झूंठी होऊं कह देना।
बात सखी! पूरी होगी,
पास सभी दूरी होगी,

खिंचे स्वयम् वे आयेंगे,
आ तुझ को अपनायेंगे।
यदपि न शिक्षा-प्राप्त, सही—
पर सुनते हैं बात यही,
"सच्चा होता स्नेह अगर,
तो बढ़ता है लगर लगर,
फल देता दिन एक सरस,
मिलता सुख उनको बरबस,
बिछुड़े तक भी मिल जाते,
मुंदे हृदय-दल खिल जाते।
सीता ने दमयन्ती ने,
सावित्री लजवन्ती ने,
सच्चा प्रेम स्वरूप दिखा,
दिया हमें भी स्नेह सिखा।
यदि सच्चा है प्रेम सखी!
यही प्रकृति का नेम सखी!
पूरी होती अभिलाषा,
दो हृदयों की शुचि आशा।
सुनते हैं ध्रुव ने तप कर,
पाई पदवी वह शुचितर,

जो न किसी को कभी मिली,
रही अडिग वह नहीं हिली।
मन चाही बातें होंगी,
सुख की बरसातें होंगी,
पाओगी तुम पाओगी,
यदि रोई हर्षाओगी।"

रक्तिम पश्चिम गगन हुआ,
जन जन का मन मगन हुआ,
किङ्किणियाँ बज उठीं टनन,
किया सूर्य ने दूर गमन!
संध्या हुई गाय आईं,
सखियां दोनों हर्षाईं,
ले ले कर अपनी गायें,
गईं गेह सब बालायें।
मञ्जु मनोरथ घड़ती सी,
सुख लहरों में पड़ती सी,
पूंछ पकड़ खेलती हुई,
उछल-उछल ठेलती हुई—

कभी चलाती कभी भगा,
रव से सारा गांव जगा,
मनभो अपने गेह गई,
बरबस ही भर नेह गई—
हृदयों में उन युवकों के,
हट्टे कट्टे जो चोखे,
पाँच हाथ कीं डील लिये,
खड़े हुए थे नयन किये ।
उसके उन अङ्गागों पर,
जिन में सुधा रही थी भर,
प्रकृति कमल करसे क्रम - क्रम,
अविरत-अविरल- उज्वल- तम ।

नैश गगन के अन्चल में,
दीख पड़े कुछ ही पल में,
हीरक-मणि बिखरे - बिखरे,
मुक्ता-दल निखरे - निखरे ।
नहीं उन्हें चुगता कोई,
संसृति देख यही रोई,

काम किसी के क्या आये,
खण्डहर - दीपक कहलाये !
तम की निज चादर काली,
संसृति पर निशि ने डाली,
सोया विश्व थका हारा,
रुकी विचारों की धारा।
कुछ ही क्षण के लिये सही,
पर अब तो कुछ शोक नहीं,
किन्तु कराह रहे अब भी,
पड़ कर श्रांत मृतक वत भी।
आओ हम भी सो जायें,
मृदु स्वप्नों में खो जायें,
वियत व्योम के रक्षक ये,
खड़े रहेंगे तब तक ये।
ये जग के प्रहरी गण हैं,
ये अनन्त ज्योतिकण हैं,
नील नमस्सर के सुन्दर,
सुमन-गुच्छ हैं ये सुख कर।
नृत्य श्रांत सुन्दर - सुन्दर,
परियों के ये श्रम—सीकर,

या शशि-थाली से बिखरे,
सुधा-सुकण निखरे निखरे ।
या कि तिमिर के सुन्दरतम,
ये रहस्य हैं उज्ज्वलतम,
असुख, अनित जग से भगकर,
हुए केन्द्रित सुख ऊपर ।
अखिल विश्व के माप मुखर,
स्वर्ण-लोक - वासी, सुखकर ।
इनका काम परखना है,
संसृति-कार्य निरखना है,
रहते सारी रात खड़े,
लिये दिव्यता-भरे घड़े ।
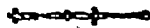
नौ

भर हृदय में भाव नीके शारदे,
मा ! हमारी भावना विस्तार दे,
मा ! मृदुल हृत्तंत्रिका झङ्कार दे,
हृदय में पीयूष-धारा डार दे।

देखता मधु पथ रहा नित उन्मुना,
पर नहीं संदेश कुछ उसने सुना,
विकलता बढ़ बढ़ उसे थी छेड़ती,
भाव श्रोत प्रोत मानस बेंधती।

दिन गये सप्ताह बीते मास भी,
मिट चुकी थी अब हृदय की आस भी,
मधुर उसका मन तरसता ही रहा,
अम्बु नयनों से बरसता ही रहा।

दो यथेरिसत हृदय का यदि मेल हो,
दुखद जीवन भी सुखद - सा खेल हो
क्यों न दुनिया मेल फिर यह चाहती,
क्यों न बन्धन-मुक्त-संग सराहती ।

कल्याण कारी ही अगर अनहित करें,
प्राण - पोषक ही अगर अनुचित करें,
तो कहां फिर प्राप्त होता त्राण है,
विकल मानस है तडपते प्राण हैं ।

चौधरी ने सोच क्या मन में लिया ,
मास तक बीते न सदेशा दिया,
अन्त क्या वह चाहता है हो विदित,
पूर्ण कर देंगे उसे हम हो मुदित ।

सोचता वह देर तक ऐसे रहा,
तर्क - वारिधि मे निमज्जित हो बहा,
आ रहा भर भर न जाने क्यों गला,
सो रही थी आज कल उसकी कला ।

रंग सूखे तूलिका विक्षिप्त थी,
पत्र-पट्टी धूलि-कण में लिप्त थी,
सुमन लख उसकी कला का यह पतन,
कर रहा था अनवरत जागृति-यतन।

पत्र अगणित दे चुका था विनय के,
खोल के पट रख चुका था हृदय के,
दे दिया था रौप्यकों का लोभ भी,
कुछ दिखाया था उसे पुनि क्षोभ भी।

पर न जू तक कान पर रेंगी वहाँ,
पा सका उस चौधरी की वह न 'हाँ',
दिवस नित अगणित लगा पर उड़ रहे,
मित्र भी दोनों हृदय से दृढ़ रहे।

हेतु जिसके राज - कन्यायें खड़ीं,
सुन्दरी, आभामयी, मन्जुल बड़ीं,
मिल रहीं हैं आज जिस को कीर्तियां,
अनुसरित हैं आज जिसकी नीतियाँ।

जो कला में श्रेष्ठ नर पुंगव महा,
उच्चतम जिसका सदा आसन रहा,
क्यों न पुनि उसको यथेप्सित जन मिले,
क्यों न मन उसका कुमुद सा पा खिले ?

आज मधुकर दुखित-चित्त अशांत है,
नित्य दिन-दिन हो रहा उद्भ्रांत है,
मिट रही है आज पर उसकी कला,
विश्व का करती रहेगी जो भला।

आज जिस पर भारती को गर्व हो,
तनिक सी इच्छा उसी की खर्व हो,
"हो नहीं सकता, न यह है ठीक ही,
मांगनी चाहे पड़े फिर भीख ही—

किन्तु देंगे धन, अगर चाहे, विपुल,
जल हमारा मन रहा है हृदय घुल,
सोच कर ऐसे खड़ा वह हो गया,
कुछ विचारों की लहर में खो गया।

पैर उसके चल पड़े उस गेह को,
बो चुका था जहां मधुकर स्नेह को,
अरुण सूरज जल रहा था आग सा,
अवनि-अम्बर खेलते थे फाग सा,

वियत नभ में नीरदों का नाम क्या,
मूर्ख में ज्यों प्रज्ञता का काम क्या,
'सन्न सन्' भीषण प्रभञ्जन बह चला,
इङ्गितों में क्या न जाने कह चला।

चीरती पथ शीघ्र, धूलि बिखेरती,
लीक पथ पर अमिट अपनी गेरती,
एक मोटर थी सड़क पर बढ़ रही,
वियत वसुधा-वक्ष पर थी चढ़ रही।

दौड़ते से पादपों के पुञ्ज भी,
सरस, शीतल, बन-विहग-युत कुञ्ज भी,
शांत, नीरव, मृदुल, सरिता-तीर भी,
मुक्त कुञ्जों में विहरते कीर भी—

रोक सकते थे न पल भर के लिये,
भग रहे थे वे स्वयम् जड़ तन लिये,
सूर्य ज्वाला उगलता था क्रोध से,
अवनि-हीतल जल रहा था क्षोभ से।

गगन के विस्तृत हृदय में चाह थी,
अवनि-उर में भी दबी सी दाह थी,
लड़ रहे थे आज दोनों क्रोध से,
बीच के प्राणी जलाते क्षोभ से,।

वेग मय वह शैल-निःसृत-नीरसी,
क्षितिज-छोरों को मिलाती तीर सी—
जा रही थी तीव्र गति की पुत्तली,
तरलता के सुभग सांचे में ढली।

उछलती थी बीच में पाकर गढा,
किन्तु द्रुत आगे तुरत बढ़ती दृढा,
ज्ञान की अद्भुत अविष्कारावली,
आज कितनी तीव्र गति से बढ़ चली।

सरित्-दीप

त्वरित, पथ पर दौड़ती झक झोरती,
तरु - लता - टीले - विहगम् छोड़ती,
लक्ष्य पर पहुंची तनिक से कालमें,
चौधरी के ग्राम - क्षेत्र विशालमें।

...न उतरा चौधरी आया भगा,
आज वह आनन्द - नद में था पगा,
हाथ में थोड़े बतासे से लिये,
मोद से जिनको सुमन को दे दिये।

और बोला "मन - भरी की बात को,
कर चुके हैं पास ही नय रात को,
युवक सुन्दर, स्वस्थ, कठला-तोड़ है,
मन भरी के योग्य बिल्कुल जोड़ है—

ऊंट, जोड़ी बैल की, दो - दो अरथ,
आज उनकी विपुलतम है सामरथ,
तीन, कड़वी से भरी बागर खड़ी,
चार सौ बीघा निजी धरती पड़ी।

भैंस भी हैं गाय भी फिर चौधरी,
गांव भर की फिर उसे है नम्बरी,
सब तरफ़ ही धाक उसकी जम रही,
आज वह नृप से किसी विधि कम नहीं।

सुमन ने सोचा, कहा फिर "ठीक है,
चौधरी ! जोड़ा चुना, यह नीक है,
किन्तु क्यों तूने हमें न्यौता नहीं ?
अखरती है बात बस हमको यही—

जा रहा था कार्य वश मैं तो चला,
किस तरह जाता मिले बिन फिर भला,
बीच ही में घर तुम्हारा जब पड़े,
मूक फिर दोनों रहे कुछ क्षण खड़े।"

दृष्टि पहुंची तुरत छत पर गेह की,
थी खड़ी जिस ठौर प्रतिमा स्नेह की,
रुदन से युग आंख थीं सूजी हुईं,
शोक सागर मध्य थी डूबी हुई।

ठगी - सी उद्भ्रांत, क्लांत अशांत सी,
बाल वह गत - आभ क्षीण नितांत सी—
सुभन को दर्शित हुई द्रुत गेह पर,
थी खडी जो वार सर्वस नेह पर।

सुभग तन का क्यों दिया बलिदान कर,
जागती जाने रही कै रात भर,
कौन जाने बीत क्या उस पर रही,
देख यह, वह एक पल ठहरा नहीं।

चौधरी की 'राम' का उत्तर दिया,
था भरा कटु वेदनाओं से हिया,
बैठ मोटर में उडा निज गेह को,
लिये आंखों में उसी कृश देह को।

अङ्ग जर - जर बाल सब बिखरे हुए,
रुदन-जल से नयन-युग निखरे हुए,
वस्तु की या अङ्ग की परवाह से—
दूर थी वह आज जीवन-चाह से।

प्रथम वह मधु के सदन पर ही गया,
दृश्य जो देखे अभी सब पी गया,
स्वस्थ कर निज को घुसा अन्दर तुरत,
मधु खड़ा था चित्र-आङ्कन में निरत।

तूलिका थी वही बाला रंग रही,
थी खड़ी कङ्काल सी प्रत्यक्ष ही,
नयन ज्योतिर्हीन रूखे फाड़ कर,
वह खड़ी थी अश्रु-कण से नयन भर।

आज उसका मोद - मय नर्तन कहां,
आज वह अल्हड़ सुघड़ यौवन कहां,
आज वह किस ध्यान में तल्लीन है,
व्यग्र है किसके लिये क्यों क्षीण है ?

सुन रही पद - चाप मानो ध्यान से,
या कि अनहद-नाद सुनती कान से,
आज वह सीमा रहित है भोगनी,
या कि है वह स्वाद्य-त्यक्ता योगिनी।

सरित्-दीप

देख कर ज्यों नष्ट निज आराधना,
कर रही फिर से कठिन तम साधना,
जी रही है किस तरह वह आज तक,
दुःख से भूली बिचारी लाज तक।

आज बातों का न उसको ध्यान है,
चेतना से हीन उसका ज्ञान है,
और भ्रष्टा चित्र का भी तो निरा,
दिख रहा है अब गिरा बस अब गिरा।

भूल कर अपने तईं को सर्वथा,
हो खड़ा कङ्काल ही मानो यथा,
ध्यान में बस चित्र के ही लीन है,
आज उसका अङ्ग जर्जर क्षीण है।

किस तरह तन के संभाले भार को,
वह खड़ा है आज खो तन-सार को,
बलवती है किन्तु उसकी कल्पना,
हर्ष युत है आज उसका मन घना।

मौन है वह तूलिका पर चल रही,
हृदय - गुम्फित यातनाएं ढल रही,
आग सी उसके हृदय में बल रही,
निज अभीप्सित की निराशा खल रही।

पागलों की भांति ही है वह खड़ा,
एक थल पर ज्यों अवनि में हो गड़ा,
मूक है पर है मुखर उसकी कला,
चीख कहती फाड़ कर अपना गला—

"रे! कलाविद! चित्र उजड़े ही बना,
आज तुझसे भाग्य ही तेरा तना,
आज तेरी शुभ अभीप्साएं कुचल,
देख ले संसृति रही हो खुश उछल।"

"तू कला मे भर व्यथा ऐसी अरे,
देख कर जगती जिसे रोदन करे,"
और वह भी तीव्रता से फेरता,
तूलिका से रंग रंग भर भर गेरता।

किन्तु कितने दिवस यह रह पायगी,
कब तलक अपनी व्यथा कह पायगी,
पर नहीं है ध्यान उसको आज यह,
वह रहा है कल्पना मे आज वह।

टूट कर तूली गिरी है बस अभी,
झट उठा लो दूसरी तूली तभी,
और उसको भी लगा घिसने तुरत,
हो गया वह पूर्व से कुछ अधिक रत।

सुमन लखता देर तक यह क्रम रहा,
फिर न कुछ भी जा सका उससे कहा,
लौट वह उल्टा गया बोले बिना,
दुखद-गाथा-भेद को खोले बिना।

किन्तु जो भी गुप्त बीती बात थी,
आज वह उस चित्र से अवदात थी,
कल्पना, मन का न क्षितिज-प्रवेश है,
किन्तु यह तो सत्य का संदेश है।

जन सराहेंगे इसे कह कल्पना,
जो कि बलि से दो हृदय की है बना—
चित्र, जिसमें सत्य का आभास है,
प्रणय विकसित दो हृदय का नास है,

आज भी वह मुक्त नीलाकाश है,
आज भी वह, तेज सूर्य-प्रकाश है,
आज भी संगीत मारुत भर रहा,
आज भी सागर वही रव कर रहा।

किन्तु क्या इन में वही उल्लास है,
उस विगत का शेष क्या आभास है,
नील विस्तृत व्योम में है चाह क्यों,
सन सनाहट में पवन की आह क्यों।

सूर्य में है दाह सागर में क्षुधा,
है न अन्तर में किसी के भी सुधा,
आज चितवन चन्द्र की भी चाह ले,
द्वार पर आती हमारे दाह ले।